अमर ज्ञान–श्रंखला 1

हमारे वन, पहाड़ और जीवन

हिमालयवासी और जैव विविधता

हिमालय ट्रस्ट, देहरादून

हमारे वन, पहाड़ और जीवन

हिमालयवासी और जैव विविधता

पर्वतीय लोगों के लिए मौखिक साक्षात्कार परियोजना

संकलन व लेखन
डॉ. वीर सिंह
इंदिरा रमेश
रचना तोषनीवाल

हिमालय ट्रस्ट, देहरादून

हिमालय ट्रस्ट
274/2 वसंत विहार
देहरादून-248006, भारत

प्रथम संस्करण, मार्च 2001

संपादक एवं प्रकाशक
इंदिरा रमेश

उप संपादक
रचना तोषनीवाल

संकलन
डॉ. वीर सिंह, इंदिरा रमेश, रचना तोषनीवाल

मुख पृष्ठ रेखांकन एवं चित्रण
सौमेन चक्रबर्ती

यह पुस्तक हिमालय ट्रस्ट और द पानोस इंस्टीट्यूट, लंदन के सहयोग के परिणामस्वरूप तैयार हुई है।

हिमालय ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित एवं इन्द्रप्रस्थ प्रिंटिग प्रेस (सी.बी.टी.),
4, बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नई दिल्ली-110002 द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

यह पुस्तक उन लोगों की जीवन गाथा है जो दुनिया के सबसे ऊँचे व भंगुर पर्वत, हिमालय के वासी हैं। इसमें पहाड़ी जीवन, पहाडों के सौन्दर्य तथा उनकी भव्यता, वनों तथा झरनों, उन व्यक्तियों की बुद्धि तथा शक्ति जिन्होंने पहाड़ों को अपना घर बना लिया और ऐसी संस्कृति स्थापित की जिसमें मनुष्य व प्रकृति किस प्रकार एक दूसरे पर निर्भर हैं, इन सभी बातों का वर्णन किया गया है।

यहाँ प्रस्तुत कहानियों का संकलन उन व्यक्तियों के जीवन के बारे में है जिनका साक्षात्कार मौखिक सबूत कार्यक्रम के अन्तर्गत वर्ष 1994 व 1998 के दौरन किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य था कि पहाड़ी बुजुर्गों के अनुभव व जीवनकाल में घटित सभी घटनाओं को लिपिबद्ध किया जाये। शुरु शुरू में उनका जीवन भी अपने ही पूर्वजों की भांति, काफी हद तक, आत्मनिर्भर व परम्पराओं से पूर्ण था। हमने प्रयास किया कि इस शीघ्र लुप्त होती संस्कृति के पारम्परिक ज्ञान व स्वदेशी जानकारी को पूरी तरह से लिपिबद्ध कर लिया जाये। इस प्रक्रिया के दौरान एक बहुत रोचक बात यह सामने आई कि साक्षात्कार देने वालों की आधुनीकीकरण का वातावरण पर प्रभाव, सड़कों के आने, महिला शिक्षा, पैसे पर आधारित

अर्थ व्यवस्था, नई कृषि नीति आदि, के बारे में क्या प्रतिक्रिया थी।

साक्षात्कार करने वालों के चयन का मुख्य आधार यह था कि वे स्थानीय लोग थे तथा यहां की भाषा से परिचित थे। इन्होंने उत्तरांचल में फैले संपूर्ण गढ़वाल व कुमाऊं क्षेत्र की नदी घाटियों, हिमाचल में किन्नौर क्षेत्रों में जाकर वहां के अनुभवी व्यक्तियों से साक्षात्कार किया। साक्षात्कार देने वालों में से दो-तिहाई लोग ऐसे थे जो कि सड़क से काफी दूर रहते थे और बाहरी संस्कृति के प्रभाव की चपेट में अभी तक नहीं आए थे। ये सब आम लोग हैं, किसी प्रकार के लोकनायक या सामाजिक कार्यकर्ता नहीं और अधिकतर लोगों ने अपने जीवन में टेप रिकॉर्डर तक नहीं देखा था और इतनी खुलकर व स्पष्ट रुप से किसी से बातचीत नहीं की थी जैसे इन्होंने हमारे युवा साक्षात्कार करने वालों से की।

मौखिक सबूत कार्यक्रम की रुपरेखा बनाने व संचालन करने से जुड़े हम सभी के लिए यह एक अत्यन्त ही प्रेरणादायक व सुखद अनुभव रहा है खासतौर से उन साक्षात्कार करने वालों के लिए जिन्होंने अपनी कल्पना व प्रयास से इस पीढ़ी की जीवन कथाओं को उनके हृदय से बाहर निकाला व लिपिबद्ध किया, जो कि शीध्र ही विस्मृत व लुप्त होती प्रतीत हो रही हैं। ये कहानियाँ हैं उनकी ज़मीन, उनके पूर्वजों व मुँह से निकले हर शब्द के जादू की। इनके जीवन की कहानियों को जिस किसी ने भी सुना व उनके साथ जिया उन सभी ने हमें ऐसा वर्णन दिया जैसे वे सीधे अपने हृदय से बात कर रहे हैं–यह मार्मिक अनुभव उन भाग्यशाली लोगों की स्मृति में हमेशा के लिया संजोकर रखा जायेगा जिन्होंने इन्हें सुना है।

इन सभी सबूतों को एकान्त में रिकॉर्ड किया गया और प्रत्येक साक्षात्कार की अवधि 60 मिनट है। इनका तुरन्त हिन्दी तथा उसके बाद अंग्रजी में अनुवाद किया गया।

इन पुस्तकों की विषय वस्तु तथा उनकी श्रंखलाओं के शीर्षक स्वतः ही उभर कर सामने आए। अधिकतर लोगों ने पर्यावरण पर बढ़ते दबाब, "घास, लखडू व पाणी" के धीरे-धीरे कम होने पर, जिन पर उनका संपूर्ण जीवन टिका हुआ था, कृषि के नए तरीके और शिक्षा के कारण महिलाओं के जीवन में आए परिवर्तन–सभी विषयों पर अपने विचार बड़ी ही उत्कण्ठा से व्यक्त किये। इस श्रंखला का शीर्षक 'अमर ज्ञान' एकदम सार्थक व उपयुक्त है।

हमारी पहली पुस्तक जैव विविधता से सबन्धित हैं, हिमालय क्षेत्र में उपलब्ध वनस्पतियों का ऐसा अमूल्य मिश्रण, जिसपर वहाँ रहने वाले मनुष्यों व पशुओं का जीवन निर्भर है। हमने इस पुस्तक को तीन भागों में विभाजित किया है। पहले अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार यहाँ रहने वालों ने स्थानीय पहाड़ी वातावरण के अनुकूल स्वयं को ढाला, यहाँ पाई जाने वाली जैव विविधता का पूरी तरह उपयोग किया, प्रकृति के साथ पूरे तालमेल व सामन्जस्य के साथ एक अत्यन्त ही आत्मनिर्भर व स्वतंत्र प्रकार की सभ्यता की रचना की। जिसके फलस्वरुप उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हुई व कई प्रकार के समुदाय यहाँ फले-फूले और जिस वातावरण में वे रहे उन्हीं के अनुरुप वे बदलते व बढ़ते चले गए। द्वितीय अध्याय में बताया गया है कि किस तरह बाहरी दुनिया के आघात, सरकारी नीति द्वारा सड़कों के निर्माण, जंगल काटना, सेना के आने तथा उनके प्राकृतिक संसाधनों के दुरुउपयोग के कारण जैव विविधता की क्षति व हानि आदि के खिलाफ यहाँ के लोगों को जूझना पड़ा। तीसरे अध्याय में पहाडों के विकास तथा किन उचित तरह के तरीकों से पहाड़ी समुदायों व वहाँ की सभ्यता को बचाया व बढावा दिया जाए, जैसे विषयों पर लोगों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इनको अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए ऐसे लोगों की कहानियाँ मौजूद हैं जिन्होंने सब बन्धन तोड़कर सक्रिय तौर पर अपनी पहाड़ी दुनिया के पर्यावरण को बचाने का काम किया है।

इसी श्रृंखला में प्रकाशित दूसरी व तीसरी पुस्तक यहाँ की परम्परागत खेती तथा पहाड़ की महिलाओं के जीवन से संबन्धित होंगी।

इन सभी सबूतों को पुस्तक के रुप में छापकर हम उन सब के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने हमें यह अनुमति दी कि उनके जीवन की हम एक झलक देख सकें, जिन्होंने अपने विचार, भावनाऐं तथा भविष्य की परिकल्पना हमारे साथ बाँटीं।

हम आशा करते हैं कि पहाड़ के लोगों के लिए ये पुस्तकें केवल पुस्तकें ही न रहें किन्तु उन्हें उनके क्षेत्र के जारी रहने वाले इतिहास का हिस्सा बनायेंगी और ये साक्षात्कार उन्हें पर्वतीय क्षेत्र के भावी स्वरूप को तय करने में मदद करेंगी। इन साक्षात्कारों से सिद्ध होता है कि छोटे समूह ही स्थायी विकास का रास्ता बना सकते हैं तथा हमारे बुजुर्गों ने इसे प्राप्त भी कर लिया था। वस्तुतः इन लघु समुदायों को ही अपने समाज तथा वातावरण की अंतरंग जानकारी होती है और संसाधनों का सबसे बेहतर उपयोग जानते हैं, जिससे कम से कम सामग्री बेकार होती है। संसाधनों का दूरगामी उपयोग करने का सरलतम मार्ग तो यही है कि गांववासी ही अपने आस-पासके साधनों पर नियंत्रण स्थापित करें।

हमें यह विश्वास है कि उनके ये शब्द व उदगार सभी पाठकों को प्रोत्साहित करेंगे, विशेषकर पहाड़ की युवा पीढ़ी को जो पहाड़ से नीचे के इलाकों की ओर जाती घुमावदार व सुन्दर प्रतीत होती सड़कें उनको लालायित करके अपने साथ मैदानी इलाकों में ले गयीं। उनके बुजुर्गों की तरह हम भी आशावान हैं कि एक दिन वे लौटेंगे–अवश्य लौटेंगे।

–इंदिरा रमेश
परियोजना निर्देशक

आभार

हम सर्वप्रथम उनके आभारी हैं जिन्होंने इस कार्यक्रम में हिस्सा लिया, विशेषकर उन लोगों के जिन्होंने अपना अमूल्य समय हमें दिया तथा अपनी यादें अनुभव व विचार हमारे साथ बाँटे, और उन सभी किन्नौर व उत्तरांचल के कर्मठ व सुयोग्य, जिज्ञासा व उत्साह से पूर्ण लोगों के जिन्होंने इन सबूतों को इतना सरस व रोचक बनाया।

अनेक लोगों ने अपना समय व सामर्थ्य, इन सबूतों का अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए दिया, जो कि पेनोस के लिए किये गये। हम श्रीमती अनूप मेहता के आभारी हैं जिन्होंने तत्परता से हमारी प्रत्येक आक्समिक अनुवाद करने की माँग तथा संबन्धी कार्य उत्साह के साथ किये।

डॉ. वीर सिंह का योगदान इस पुस्तक को लिखने व संपादन करने तक ही सीमित नहीं, यह अवर्णनीय है। इन्होंने इसकी पर्यावरण सम्बन्धी महत्ता को बखूबी स्पष्ट किया–श्रृंखला का शीर्षक भी उनकी सूजबूझ से मिला-और हमारे कार्य को एक समग्र दृष्टिकोण दिया।

इस पुस्तक में दिये गए सभी चित्र व छायांकन सौमेन चक्रबर्ती द्वारा जी जान से बनाये गये हैं। सौमेन गत कई वर्षों से गढ़वाल में रह रहे हैं और इस पुस्तक का छायांकन करके उन्होंने उन पहाड़ो तथा वहाँ के

निवासियों के प्रति अपना आभार व्यक्त किया जो उनको अत्यन्त प्रिय हैं।

पेनोस संसथान लंदन के निरंतर सहयोग व भागीदारी के कारण ही हम अच्छे तथा बुरे समय से जूझ सके। हम ऑलिविया बेनेट तथा उनके सभी सहयोगी कार्यकर्ताओं के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने सदैव हमारी सहायता तथा मार्गदर्शन किया।

हमारे कार्य के प्रारंभिक काल में मिली आर्थिक सहायता के लिए हम भारतीय सांस्कृतिक निधी (इन्टैक) के आभारी हैं। एस.डी.सी. के फ्रांस्वा व उर्ज़ हायरली के प्रति भी हम अपना आभार व्यक्त करते हैं।

इस पुस्तक को पेनोस संस्थान के मौखिक सबूत कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया और इस कार्य के लिए हमें फोर्ड फांउडेशन, दिल्ली, स्विस एजेंसी फॉर डेवेलपेंट तथा कोओपरेशन से आर्थिक सहायता उपलब्ध हुई।

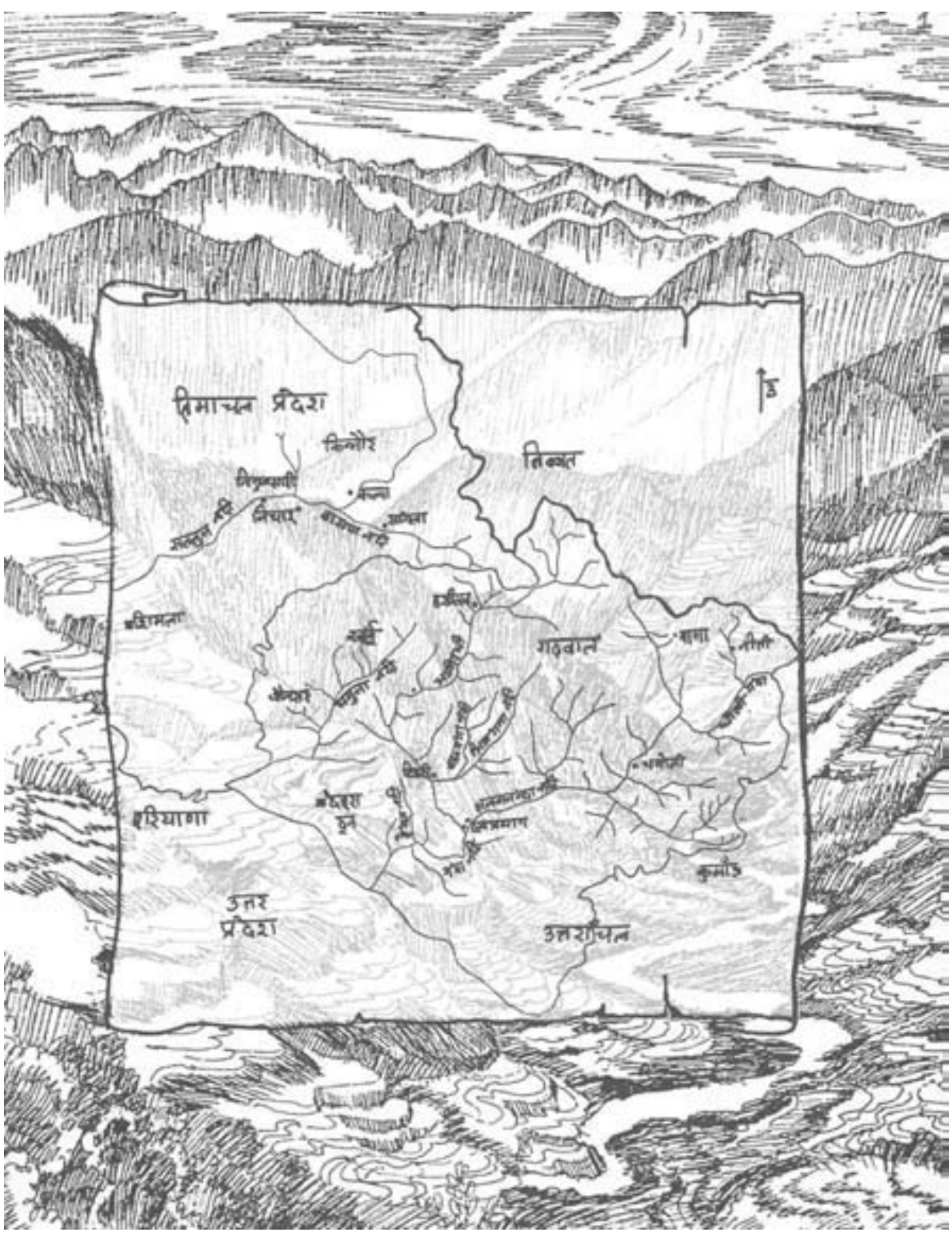
हिमाचल प्रदेश
किन्नौर
तिब्बत
गढ़वाल
हरियाणा
उत्तर प्रदेश
उत्तरांचल

"पशुपालन तो हमारा पैतृक धन्धा है, जो हमारे बुग्याल हैं उन पर तो हमारी आत्मीयता तो है ही। एक प्रकार से वो हमारी ज़मीन है-विशेषकर हमारी गमशाली के ऊपर ढ़ामण और तिलतिल आदि बुग्याल... ढ़ामण के पास हमारा एक छाणी का मंदिर है। शायद देवी का ही एक रूप है... लोग वहां पर जाकर अपने पशुओं के स्वस्थ्य रहने की कामना से पूजा करते हैं।"

इन्द्रसिंह फोनिया, गमशाली, नीतीघाटी

1

हिमालय में जीवन

"जंगल हमारे धरोहर हैं... हमारा पूरा जीवन जंगलों पर निर्भर हैं..."

लकूपती,
निचार, किन्नौर

लकूपती एक ८० वर्षीय महिला है जो छोड़ा गाँव, निचार क्षेत्र, किन्नौर की रहने वाली है। यह गाँव हिमाचल प्रदेश की भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित है। इनका प्रमुख काम खेती व पशुपालन है। ये ड्वाकरा (एक स्थानीय महिला समूह) की एक बहुत ही सक्रिय सदस्य है। अपने बचपन में वे कभी स्कूल नहीं गयी किन्तु अब साक्षरता आयोग द्वारा चलाए गए स्कूल में जाती हैं और इन्हें गर्व है कि वे अब अपना नाम लिख सकती हैं व गिन भी सकती हैं।

इन दूर दराज के इलाकों के रहने वालों का जीवन अत्यन्त ही कठिन है, किन्तु इस पीढ़ी के अन्य सदस्यों की तरह लकूपती को बहुत फ़क्र है कि वह पहाड़ो की रहने वाली हैं। इन्हें यहाँ का प्राकृतिक वातावरण, वनों की सुन्दरता व महत्व तथा पहाड़ों व नदियों की खूबसूरत छवि पूरी तरह आनन्दित करती है। दरसल इन दुर्गम किन्तु सुन्दर वादियों में रहने वाले सभी व्यक्ति प्रकृति को पूजनीय मानते हैं और प्रतिदिन उन्हें यह आभास होता है कि वे देवभूमि के वासी हैं।

"मैं तो पहाड़ों में ही पैदा हुई हूँ और मुझे यहीं अच्छा लगता है। यह अलग बात है कि यहाँ काफी ठण्ड होती है, बर्फ पड़ती है, तेज बारिश होती है। बड़ी चट्टानें गिरती हैं, और आने जाने के रास्ते बन्द हो जाते हैं! लेकिन मेरे नज़रिये में कुछ महिनों यह दुर्गम क्षेत्र बहुत ही अच्छा है। लोग सिदे-साधे हैं। लोगों की प्रकृति के प्रति विशेष आस्था है। यहाँ देवों का वास होता है।

"हाँ, मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। हमारे टाइम में स्कूल नहीं होते थे और लड़कियों को पढ़ाने के लिए घर से दूर नहीं भेजते थे। मैं गाय बैलों को चराया करती थी और साथ में ऊन कातती थी और दिन भर खेलती रहती थी!

"हम लोगों का व्यवसाय खेती बाड़ी और पशुपालन है। मौसम खुलने पर खेती-बाड़ी का काम शुरू किया जाता है। सभी लोग भेड़ बकरी, गाय, बैल पालते हैं। खाली समय में खुड से गोबर की ढुलाई खेतों में करते हैं। लकड़ी का प्रबन्ध करते हैं। गांव की औरतें एक साथ जंगलो में जाकर सर्दियों के दिनों में सूखी लकड़ी इकट्ठी करते हैं। अक्सर दिसम्बर, जनवरी और फरवरी में भारी बर्फ पड़ती है। इन दिनों हम घर के अन्दर ही रहकर खूब मोटी मोटी लकड़ियों से आग जलाकर रखते हैं और परिवार के सभी जन ऊन कातते हैं। यहाँ तक की बूढ़ी महिला और पुरूष भी इस काम को बड़े ही शौक से करते हैं। परम्परा के मुताबिक चुटकुले, कहानियाँ और कुछ आप बीती भी सुनाते हैं। इस तरह सर्दियों के दिन कट जाते हैं और ऊन कताई भी समाप्त हो जाती है। ठण्ड से भी पूरा बचाव हो जाता है।

"हम लोगों का तो पूरा जीवन ही जंगलो पर निर्भर है। घर

में चूल्हे पर खाना पकाने के लिए लकड़ी इन्ही जंगलों से लानी पड़ती है। मकान बनाने के लिए तख्ते, कड़ियाँ जंगल से ही लाते हैं। जंगल से हम लोग पशुओं के लिए पोश (सोत्तर) लाते हैं जो पशुओं के खुड के नीचे बिछाते हैं। इससे बढ़िया कम्पोस्ट खाद तैयार होता है। यही नहीं, जंगलों से हम पशुओं के लिए घास पत्तियाँ और कई किस्म की बहुमूल्य जड़ी बूटियाँ और खनिज भी लाते हैं। इसके अलावा हमें गुच्छी, चायपति, ह्यूमस खाद और धूप भी प्राप्त होता है। गर्मियों में सभी भेड़-बकरियाँ व पशु जंगलों में चुगाने के लिए जाते हैं। जंगल हमारे धरोहर हैं। इनसे हमे प्राकृतिक सौंदर्य प्राप्त होता है। यही नहीं, जंगलों से हमें मुफ्त में शुद्ध हवा मिलती है, जिसकी पूरे राष्ट्र को ज़रूरत है।

"जंगलों से भूमि कटाव नहीं होता है, जहाँ जंगल ज्यादा होंगे वहां वर्षा होती रहेगी, और वायुमण्डल स्वच्छ रहेगा, वायु का दबाव भी ठीक बना रहेगा। जंगली जानवर और पक्षी भी अधिक संख्या में जीवित रहेंगे व लुप्त होने से बचे रहेंगे। नदी-नालों का जल-स्तर बरकरार रहेगा, आमदनी का ज़रिया जन साधारण व राष्ट्र को बना रहेगा। लोगों को काम मिलेगा। काम मिलने से लोगों का जीवन स्तर बढ़ेगा।"

हिमालय क्षेत्र में सभी लोग यह मानते हैं कि वे वहाँ पर उपलब्ध विभिन्न पेड़-पौधों के कारण ही जीवित हैं। यहाँ की जैव-विविधता के मुख्य कारण है यहाँ के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और साथ ही समतल भूमि तथा सदा बर्फ से ढके हुए इलाके। इन महान पर्वतीय श्रंखलाओं में समशीतोष्ण जंगल, चौड़े पत्ते वाले मिश्रित जंगल, शंकुधारी वृक्ष व बांज-बुरासं के

जंगल, फूल भरे बुग्याल (चारागाह) तथा ठंडे रेगिस्तान पाए जाते हैं। हिमालय में दुनिया का सबसे घना विविधता का भंडार है जिसमें कई प्रकार के जीव तथा मनुष्य श्रेणियां हैं। यह भंडार बहुत ही अदभुत और नाजुक भी है। यदि इसका दुरूपयोग या शोषण हुआ तो हो सकता है यह पूरी तरह नष्ट हो जाये।

टिहरी गढ़वाल में चंबा के वासी **मोहनलाल उनियाल**, जो कि एक दक्ष आयुर्वेदिक चिकित्सक हैं, कहते हैं कि पहाड़ी जनता की हिमालय के प्रति बहुत गहरी आस्था है। वे कालीदास का उदाहरण देकर कहते हैः

"यहाँ तो संसार का सबसे ऊंचा पर्वत है, देवत्व के हिसाब से यहां शंकर की भूमि हैं 'हिमालय!' इसका नाम केदारखण्ड हिमालय है, इसका आदर करते है तथा पूजते हैं। लोगों की आस्था इस पर है, हमारी भी आस्था है। कालीदास ने कहा हैः

'अस्तितरस्यांम दिसिदेवतात्मा
हिमालयोनाम नगाधिराजै।
पूर्वा परोतोयेन देव गाहियाः
सतत् पृथिब्या इव मानदण्डः।।

ये उत्तराखण्ड की भूमि है। यही देवभूमि है। यहाँ की जलवायु और यहां के मनोरम दृश्य स्वतः स्फूर्ति देते हैं और आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। उनका तो संरक्षण होना ही चाहिए। किसी तरह से यहाँ के वनों को, नदियों को, पहाड़ो को छेड़ा नहीं जाना चाहिए।"

नीची घाटियों में चौड़े पत्तों वाले प्राकृतिक जंगल तथा ऊपरी इलाके में उपलब्ध चारागाहों में एक अत्यंत बहुमूल्य खज़ाना है जिसमें विभिन्न प्रकार के खाने योग्य व औषधि के पौधे, झाड़ियाँ, पेड़ व घास है जिससे रस्सी, टोकरी, चटाई आदि बनती है, चारा मिलता है तथा ऐसी मज़बूत लकड़ी मिलती है जिसमें कभी कीड़ा नहीं लगता। तेल, बैंत व रंग देने वाले पौधे होते हैं। साथ ही ऐसे भी पेड़ होते हैं जिनकी जडों में पानी के स्रोत होते हैं जैसे उत्तीश या बांज। इस प्राकृतिक पौधशाला में उपलब्ध जैव-विविधता के भंडार से ही पानी के झरने निकलते हैं, उपजाऊ व अच्छी मिट्टी मिलती। जिससे जीवन संभव है। पहाड़ के लोगों का जीवन व संस्कृति इन प्राकृतिक जैविय व निर्जीव संसाधनों से पूरी तरह से जुड़ा हुआ है तथा उन पर निर्भर है। मनुष्य व प्रकृति के इस गहरे व अटूट सम्बन्ध ने एक स्वावलंबी समाज तथा सामूहिक जीवनशैली का निर्माण किया। इन स्वावलंबी व आत्मनिर्भर समुदाओं की एक बहुमूल्य संस्कृति व रीतियां हैं जिनके कारण उन्हें इस कठिन इलाके में रहने व बसने की क्षमता मिली व उनकी सहनशीलता बनी रही।

जल, जंगल और जमीन

परन्तु इन पहाड़ों में रहनेवालों का जीवनकाल कभी भी कठिनाइयों से खाली नहीं रहा है, क्योंकि यहाँ की जलवायु बहुत ही कठोर है। इन्होंने धीरे धीरे अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढाला तथा खेती करना व पशुपालन सीखा। ढलानों पर सीढीदार खेत बनाकर खेती करने के नये तरीके अपनाए जिससे सही प्रकार की फसलें हो सकें। जल स्रोतों का संरक्षण किया तथा सामुहिक सिंचाई करने की बेहतर व्यवस्था का प्रबन्ध किया।

यहाँ के पुराने वासी बहुत आतुरता से इस पुस्तक के लिए युवा साक्षात्कार करने वालों से अपने अनुभव व ज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए बताते हैं कि उनका जीवन कैसा था और पर्वतीय जनजातियों ने हिमालय की जैव विविधता को किस प्रकार प्रयोग किया है जिससे उनकी आम ज़रूरतें पूरी हो सकें, जैसे खाना, इंधन, चारा, खाद, रस्सी, घर तथा पानी और साथ-साथ प्रकृति का संतुलन भी न चरमराए।

शांतिदेवी (५५) भागीरथी घाटी के डुण्डा गाँव में लगभग ८ वर्ष से रह रही हैं। एक घुमन्तु जात की राजपूत महिला है जो अपने अन्य साथियों के साथ हर छः महीने में गंगोत्री के समीप हरसिल, से ऋषिकेश के पास चोरपानी तक अपनी भेड़ व बकरियों के साथ घूमती थी। आजकल वे ऊन कातती हैं। वे अपने रिश्तेदारों से ऊन लेती हैं या अंगोरा खरगोश से उपलब्ध करती हैं जो इन्होंने सरकारी कर्ज लेकर पाले हैं। उनका मायका हिमाचल में है पर उनके पति का परिवार इस इलाके में चार पीढियों से बसा है।

"हम यहाँ ८ साल से रह रहे हैं। लेकिन हमारे साथी गाँववाले और हम छः महीने यहाँ (डुण्डा) और छः महीने हरसिल-बगोरी में रहते थे। वहां (बगोरी में) ठण्डा बहुत है, वहाँ बर्फ में रह नहीं सकते। गर्मियों में भी रह नहीं सकते क्योंकि हम भेड़ बकरी पालने वाले लोग हैं, इसलिये बकरियों के साथ (बुगियालों में) उपर-नीचे जाना पड़ता है। बच्चों की पढ़ाई की वजह से हम यहाँ रहने लगे हैं। लेकिन अभी भी हम यहाँ कुछ दिन ही रहते हैं। ज़्यादातर भेड़ बकरियों के साथ हरसिल में ही रहते हैं। हम

बूढ़े-बूढ़ी बच्चों के साथ आ जाते हैं। यहाँ (डुण्डा) तो हम पहले से ही आते थे। यह हमारी छः महीने रहने की जगहों में से एक जगह थी। इसलिए यह हमारी ही ज़मीन थी।

"हम लोग अपने छः महीने का सामान ऋषिकेश से ले आते थे। बकरी के ऊपर सामान लादकर ले जाते थे। मसाला-मिर्च भी ले जाते थे। अपना आलू, चीणा, खेतों में पैदा होता था।

"हमें वहां (बगोरी) की बहुत याद आती है। वहाँ के घी का स्वाद ही अलग था। बकरी और गाय को हमें नहीं चुगाना पड़ता था। वे अपने आप घर वापस आ जाती थी। वहाँ छोटी छोटी घास होती है।

"वहाँ तो अनेक किस्म के फूल हैं। सावन भादों के महीने में तो आप फूलों की महक से आगे जा ही नहीं सकते हैं। वाह! क्या फूल हैं वहाँ।

"वहाँ आलू, राजमा, सेब होता है। गेहूँ, धान नहीं होता है। फाफर और ओगल होता है। यह खाया जाता है। इसे फलाहार मानते हैं। व्रत के दिन फाफर के आटे की पूरी और रोटी बनाकर खाई जाती है। शिवरात्रि के दिन ज़्यादातर इसी के आटे का प्रयोग करते है। इसको फल के रूप में साधू महात्मा व बड़े-बड़े लोग भी खाते हैं। ओगल का आटा मीठा होता है और फाफरे का आटा कड़वा जैसा होता है। हर व्रत में खाते हैं। मारसा के साथ ओगल और फाफरे के आटे का प्रयोग व्रत में करते हैं। गेहूँ का आटा नहीं खाते हैं।

"चीणा, जौ, बिना कीस का जौ जिसे "बा" कहते हैं हम अपनी भाषा में, (टिहरी गढ़वाल में 'वाजौ' कहते हैं) व फाफरा होता था।

उसका सातू (सत्तू) बनाते हैं और चाय के साथ खाते हैं। इसका हम 'बाड़ी' भी बनाते है (उबलते हुए पानी में थोड़ा सा नमक और आटा मिलाकर घोटा जाता है। जब सख्त हो जाता, तब इसे घी और गुड़ के पानी के साथ खाया जाता है। यही बाड़ी रवाईं क्षेत्र में भी बनता है और प्रसूती महिला को विशेष खिलाया जाता है।)"

उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज शासकों के रिकॉर्ड (गज़ेटीयर्स) में जब हिमालय क्षेत्र के महान जंगलो का ज़िक्र किया गया तो वे स्वयं ही आश्चर्यचकित व हैरान थे कि यहाँ की हरियाली, पेड़ पौधे व पशु पक्षी अनन्त प्रकार के हैं, जिनके कारण ही यहाँ के रहने वालों का जीवन समृद्ध था। यहाँ के मिश्रित चौड़े पत्ते वाले व सदा हरे भरे रहने वाले जंगलों तथा पानी के स्रोतों की देखरेख सामूहिक ढंग से की जाती थी।

यहाँ के पुराने निवासी अभी भी याद करते हैं कि उनके घरों के चारों ओर कितना घना जंगल व हरियाली हुआ करती थी। यह इलाका उनके रहने, बसने के लिए उपयुक्त है किन्तु साथ ही साथ यह पर्वत श्रृंखला युवा एवं भंगुर है। इसी कारण पहाड़वासियों का जीवन, खासकर दुनिया के सबसे ऊंचे पहाड़ों पर, ख़तरों व जोखिम से भरा होता है। फिर भी वे वहाँ बसे व फले-फूले।

भगतराम नेगी करीब ७० वर्ष के हैं। वह किन्नौर (हिमाचल) की सांगला घाटी के चाँसू ग्राम में रहते हैं। सांगला के वासियों की अपनी एकदम अलग सभ्यता और रहन सहन है। यह अन्य पहाड़ियों से भिन्न हैं। भगतराम के पास यहाँ की परम्परा, खाने व दवाइयों सम्बन्धी असीम

ज्ञान का भंडार है। उन्हें जंगलों में रहने वालों के जीवन की भी सम्पूर्ण जानकारी है।

"हमारे समय में चाँसू का जंगल बहुत ही घना था। इतना घना था कि नीचे ज़मीन पर धूप की किरणें नहीं पहुँचती थीं। उस समय बहुत से जंगली जानवर भालू, कस्तूरा आदि तथा पक्षी भी बहुत किस्म के पाये जाते थे। पहले मुनाल इतने अधिक नज़र आते थे जितने आजकल कौए नज़र आते हैं। चकोर तथा लिम्या, त्यारा जो कि 'वाक-वाक' की आवाज से चहचहाता था और जिसके सिर में छोटे-छोटे सींग हुआ करते थे, भी नज़र आते थे।

"सर्दियों में १२ फुट बर्फ पड़ती थी। एक मंज़िला मकान पूरा ही डूब जाता था। सर्दियों में जब ब.र्फ पडती थी तो पहले लकड़ियों को लाने के लिये रास्ता बनाते थे। फिर आग जला कर सारा दिन चुली तथा वेमी की गुठली घाडते थे और अखरोट फाड़ते थें। ऊन कातते थे। गाय बैल को पानी घास देते थे। इस तरह सर्दियों में भी अन्दर के काम में व्यस्त रहते थे। पहले से ही औरतें एक दूसरे के घरों में जाकर ऊन कताई करती थीं। लेकिन आजकल यह मेल-जोल खत्म हो गया है। सामुहिक कार्य भी करते थे।

"उस समय का रहन सहन बहुत कठिन था। चुली और वेमी को उबाल कर पीते थे तथा फाफरे का चीलटा या शलगम के पत्तियों को सुखा कर उसकी सब्ज़ी बनाते थे। चावल, आटा, गेहूँ और मक्का का तो नाम ही सुना था। रामपुर से लाते थे तो वो भी कानूनगों और पटवारी के लिए रखते थे। तेल अपना हुआ

करता था–अखरोट का तेल, चुली का तेल आदि अब तो वैसे सभी बाहर से खरीदते हैं–कोई भी तेल नहीं निकालते हैं। आजकल तो अखरोट और चुली उगाते ही नहीं हैं। हमारे समय में तो पाँच-छः कनस्तर तेल निकालते थे।

"अब की अपेक्षा पहले का खाना अच्छा लगता है। क्योंकि उस में कुछ मिलावटी नहीं हुआ करता था। शुद्ध माल खाते थे। तेल, अनाज सब अपना खाते थे। उस समय बीमारी भी कम होती थीं। जो अनाज नीचे से आया तो उसके साथ बीमारी भी यहाँ पहुँची। उसके पहले यहाँ कोई बीमारी नहीं थी। आजकल के खाने में केवल स्वाद ही है, लेकिन गुण एक भी नहीं है। अभी भी अगर फाफरे का एक चिलटा खाए तो आपको कई घंटे तक भूख नहीं लगेगी। यदि चावल खाएंगे तो आप को एक घंटे बाद भूख लगेगी।

"पहले बकरियाँ काफी बड़ी बड़ी हुआ करती थीं, मगर अब काफी छोटी छोटी हो गई। पहले बड़े जमींदार हुआ करते थे तो वे १२-१३ बकरियां काटते थे, और जो छोटे हुआ करते थे वह ५-६ और उन्हें सर्दियों के लिये जमा करके रखते थे। पहले की बकरियों में बहुत ही चरबी मिलती थी। ये सारा घास पर निर्भर है। पहले का घास कुछ और था। वह बहुत ही ताकतवर था। जिस प्रकार आजकल के मनुष्य का खाना बदल गया है वैसे ही पशु का भी घास बदल गया है। पहले के आदमी तथा पशु गाय बैल सभी ताकतवर थे। पहले की तरह नहीं रहा, सब कुछ बदल गया है। पहले की गाय तीन चार किलो दूध देती थी। अब उसी नसल की गाय एक किलो से ऊपर नहीं देती है। ...चर्बी का

प्रयोग सब्ज़ी या दाल के तड़के में किया जाता था। एक स्थानीय चावल होता था जो कि बिल्कुल सरसों के दानों के आकार का होता था। यहां की भाषा में रौग कहते है। तो उसे थुक्पा बना कर खा लेते थे। उसे खाने से शरीर में जो छोटी-छोटी फुंसियाँ निकलती थीं, वह गायब हो जाती थीं।

"पहले नहाने के लिए कोई साबुन नहीं होता था तो हम गाय के मूत्र से नहाते थे। यदि मुँह धोना भी पड़े तो उसी से धोते थे। कपड़े राख में धोते थे। कपड़ों को एक बड़े बर्तन में डालकर पानी और राख के साथ उबाला जाता था। लेकिन अब तो कई किस्म के साबुन तथा सर्फ हैं। काफी चीज़ें बदल गई हैं।

"उस दौरान बिजली तो नहीं थी लेकिन उसके बदले में जोगरी का प्रयोग करते थे। यह जंगल में पाया जाता था। कपड़े भी पूरी तरह से काले हो जाते थे! चाँसू में सबसे पहले सेब का बगीचा भगत राम जी ने तथा ठाकुर सिंह ने लगया था। उसके पश्चात सरकारी पौधे भी आने लगे। सभी लोगो ने लगाना शुरू किया। जब मैंने सेब के पौधे लगाए तो उस समय मेरी उम्र ४० वर्ष थी। मेरे चार लड़के है तो तीनो को एक-एक बगीचा दिया हुआ है। जिसमें से हर साल एक लाख रूपए प्रत्येक बगीचे की आमदनी होती है। एक बगीचा मेरे चौथे लड़के और मेरे पास है।"

जड़धार गाँव एक बड़ा गाँव है जो कि हेंवल नदी के तट से २०० मीटर की ऊँचाई पर है। यह उत्तरांचल राज्य के टिहरी गढ़वाल जिले में है। यहाँ चारों ओर पहाड़ हैं किन्तु इनके ढलानों पर कोई पेड नहीं दिखाई देता है। रेगिस्तान जैसा वातावरण था। किन्तु जड़धार गाँव के निवासियों के प्रयास के

कारण उनके पर्यावरण में एक अदभुत चमत्कार किया गया। इन्होंने लगभग ५० हेक्टेयर ज़मीन पर हरे भरे जंगल बचाने का कार्य किया। इससे गाँववासियों को सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी तथा आवश्यकतानुसार चारा व खाद भी मिलती है। **विजय जड़धारी** 'बीज बचाओ' आन्दोलन (जो कि स्वदेशी प्रकार के बीजों को बचाने व पुनर्जीवन देने का आंदोलन है) के कार्यकर्ता हैं। यह आन्दोलन यही हेंवल घाटी से ही शुरू हुआ। जंगल मुनष्य जीवन के लिए कितने व क्यों आवश्यक हैं, यह बताते हुए वे कहते हैं:

> "प्राचीन समय में वन बहुत अच्छी हालत में थे यानी इतने ज़्यादा वन थे कि खेती कम थी। छोटे-छोटे गांव थे, वे हमेशा वहीं पर बसे जहाँ पर जंगल नज़दीक रहा। "घास, लाखड़ू और पाणी" (घास, लकड़ी और पानी) लोगों की मुख्य सम्पदा थी। लोग वहीं बसते थे जहाँ ये चीज़ें थीं।"

बचनी देवी (७२) ने हेंवल घाटी में चिपको आन्दोलन के अन्तर्गत, अग्रिम भूमिका निभाई। इसी कारण अदवाणी ग्राम के साल के हरे भरे जंगल इनके लिए बहुत महत्व रखते हैं। वे जंगलों की महानता के बारे में कहती हैं:

> "वह खाल पानी तो फूट रहा है पेड़ो के कारण, डांडा के कारण, पेड़ो की हवा से, पेड़ो की जड़ो से। जंगल में बांज, काला बांस, बुरांस, कण्डाली, कंण्डाली का झाल होता है। इसके कारण, बड़े पेड़ों की छाया के कारण, चारों तरफ से बांज के पेड़ के कारण, बुरास के पेड़ों के कारण, जड़ो से पानी फूटता है। जंगल में तब इन जडों का पानी संयुक्त रूप से इक्कठा होकर रौली से होकर

बहने लगता है और इस तरह से एक बड़ा पानी का प्राकृतिक स्रोत तैयार हो जाता है। बांज आदि हमारे लिए, हमारे जंगलों के लिए उपयोगी होता है। अच्छा ही है क्योंकि उनकी जड़ो से पानी फूट जाता है। उनकी जड़ें फैली हुई होती हैं जो मिट्टी को पकड़ लेती हैं, जिससे पानी उन जड़ो के नीचे से फूट जाता है।

"इसलिए बचाया मैंने जंगल कि हमको सुविधा होगी, लकड़ी होगी, घास होगा। हम चैन से पशु पालेगें। जब सूखा पड़ेगा, तो हम क्या करेंगे? ... घास, लकड़ी काटते समय धूप में थक कर कहीं पेडों की छांव में बैठ जाते हैं। खाले की जगह में पानी पीते हैं। क्या नहीं होता है जंगलो में? सब कुछ होता है जंगलो में।"

जीवनदायी वृक्ष

"हमारे गाँव में भिमल के पेड़ हैं। इनकी पत्तियाँ पशुओं के लिये घास का काम करती हैं। इसकी शाखाओं को भिगोकर कई दिन रखते हैं, और उसके बाद उसकी छाल निकाली जाती है। उस छाल को 'सेलू' कहते हैं जिससे रस्सियाँ व पशु बाँधने के मोटे दुहरे रस्से बनते हैं। इन्हें दाँवा कहा जाता है। और छाल निकली हुई बारीक व मोटी शाखायें आग जलाने के लिये बहुत अच्छी लकड़ी होती है। साथ ही भिमल की बारीक कोमल छाल बालों के लिये बहुत अच्छा शैम्पू के जैसा काम करता है। गाँवों में लोग पहले इसी से बाल धोते थे। इससे बाल मुलायम और साफ होते हैं। इसका प्रयोग गाँव में बड़े लोग अभी भी करते हैं।

–**जलमा देवी**, कोठियाल्ड गाँव, भागीरथी घाटी

फल, फूल और बीज

जंगलों में पाये जाने वाले फलों के लिए पर्वतीय जलवायु एकदम अनुकूल थी। यहाँ के रहने वाले ने यह सीख लिया कि इनका किस प्रकार प्रयोग खाने व औषधि बनाने में किया जाए। उत्तरकाशी के सर्प गाँववासी **सदर सिंह परमार** (७०) अपने इलाके में पाये जाने वाले जंगली फलों का वर्णन इन शब्दों में करते हैं:

> "इस मौसम में हमारे जंगलो में हिंसर तथा अन्य समय फेडू, किंगोड, तिमला आदि फल बहुतायत में मिलते थे। एक प्रकार से यह भोजन का कार्य करते थे और पेट साफ करने के लिए भी ठीक थे। अब आबादी ज़्यादा बढ़ गयी है। इनके पेड़ ही लोगों ने काट डाले हैं। इस लिए कमी हो गयी है। मोल तथा हिंसर और किंगोड़ उँचाई पर दूसरे प्रकार की व तलहटी में दूसरे ही प्रकार की होती थी। मौसम के अनुरूप यहाँ फल होते थे। मुझे अपने ज़माने की याद है जब लोग चार-चार किलो तक हिसंर लाते थे।"

हेंवलघाटी में स्थित रामपुर गाँव की निवासी **सुदेशा देवी** जब नई-नई बहु थी तब की यादें दोहराती हैं। अब वे लगभग ५५ वर्ष की है और जानी मानी पर्यावरण से जुडी हुई कार्यकर्ता है व समाजिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेती है। अपने बचपन की रोमांचक घटनाओं से बहुत आनंदित होकर सुनाती हैं:

> "हमने देखा है कि जब तक (मैं) सास की बहू रही हमारे लिये

तो खाना भी पेट भर कर नहीं मिलता था–पका हुआ खाना। तब हम कच्चे फल खाते थे तो हममें खूब ताकत रहती थी। जब हम घर से चले जाते थे तो घास की नहीं सोचते थे। हम घास की ज़्यादा चिन्ता नहीं रखते थे। सिर्फ हम इस ढ़ंग से काम करते थे कि हमें कोई घर में कुछ कहे नहीं, और हम फल खूब खाते थे। कभी खटाई, जब हिंसर का समय होता था तो हिंसर खा लेते थे। जब खूब पेट भर जाता था तो तब घास निकालते थे। घास भी उस समय पर खूब हो जाती थी।"

उत्तरकाशी जिले में पाटा गाँव गंगा नदी की भागीरथी घाटी में बसा है। ५० सालों से यहाँ रह रहीं **रामचंद्री देवी** अपनी गृहस्थी व खेतों के संचालन में पूरी तरह व्यस्त हैं। वह याद करती हैं कि जब यहाँ के जंगलों में फल व पेड़ बहुतायत में थे तो जीवन अत्यन्त सुखी था।

"पहले अँयार, भमोरू–इसे थरमोला भी कहते हैं हम–आदि बहुत खाते थे। बाँज और बुराँस काफी होता था। हम लोग जंगल में घास काटते समय खूब फल खाते थे। मोल का पेड़ नाशपाती की तरह ही होता है, लेकिन फल छोटा गोल होता है। थरमोलू, हिंसर, किंगोड़ मिलता है। फेडू यहाँ कम होता है। जंगल कम होने के साथ पौधें भी कम हो गये हैं।"

असूजी देवी (५८) जौनसारी महिला हैं जो कि विसोई गाँव में रहती है। यह गाँव टिहरी गढ़वाल के नागनाथ में स्थित है। उनके द्वारा जंगलों व यहाँ के पेड़-पौधों की जानकारी मिलती है, जिससे ज़ाहिर है कि इस समृद्ध

भंडार के बारे में अपने बुजुर्गो से ही उन्होने सुना व जाना है। जहाँ-जहाँ जंगल थे–वहाँ जीवित रहने के सभी साधन थे–कोई समस्या नहीं थी। जौनसार में आज भी कई प्रकार की पारम्परिक फसलों की खेती की जाती है। असूजी देवी जंगली फल, पेड़-पौधों व पारम्परिक बीजों का वर्णन निम्न शब्दों में करती है:

"हिस्सोई, कस्मोई जंगली झाड़ है। इसके फल खाये जाते हैं। झाड़ी में कंटि होते है। गुरियाल भी होता है और खड़िक गुरियाल की सब्ज़ी बनती है।

"खाद बनाने के लिये बांज, बुरांस, अयाँर की पत्ती का प्रयोग करते हैं। बांज तो घास (चारे) के रूप में प्रयोग करते हैं, और लकड़ी के लिये भी (जलाने के लिये) उत्तम है।

"गुरियाल की कलियों की सब्ज़ी बनाकर खाते हैं। अचार भी डालते हैं गुरियाल का। एक दूसरी चीज़ है, पिली, यह भी गुरियाल की तरह गुलाबी रंग का फूल होता है। यह चैत के महीने में होता है। इसको भी गुरियाल की तरह बनाया जाता है। एक सब्ज़ी होती है 'गानी' जो पानी वाली जगह पर होता है। जहाँ घास हमेशा रहती है, वहीं उगती है। इसमे भी गुलाबी फूल लगते हैं। छोटी-छोटी घास जैसे होती हैं। इसको उबाल कर, निचोड कर, छौंक देते है–सब्ज़ी तैयार! एक है लेंगड़ा, छोटी डन्डी जैसी, आगे से मुड़ी हुई, उँगली के बराबर मोटी होती है। इसको बारीक काटकर, तेल में छौंक कर, पकाकर तैयार हो जाती है। अरबी को गागुडी कहते हैं। हम इसके पत्ते की सब्ज़ी भी बनाते है। आजकल हम बातू–यह स्वयं उगता है खेतो में–की सब्ज़ी खाते हैं।"

विभिन्न उपयोग

"चुलू बहुत होता है। हम तो इन्हे एक साथ इकट्ठा करके सड़ाते हैं। छिलका सड़ जाने पर इन्हें धोते हैं और बीज को घर ले जाते हैं। घर में ढेले को फोड़कर अन्दर का बीज निकालकर उससे तेल निकालते हैं। वह तेल सब्ज़ी दाल छोंकने के काम भी आता है और सिर पर मलने के काम भी आता है। गर्मियों में यह तेल सर के लिये लाभदायक होता है, शीतलता पहुँचता है। हम इसका खूब प्रयोग करते हैं।"

–**जलमा देवी,** कोठियाल्ड गाँव, भागीरथी घाटी

पहाड़ के किसान, जो कि अपनी आजीविका के लिए खेती करते हैं, हमेशा उन जगहों पर रहते हैं जहाँ उनको पर्याप्त साधनों का भंडार मिलता है क्योंकि वे उसी पर निर्भर रहते हैं। वे बहुत ही भिन्न भिन्न प्रकार के प्राकृतिक वातावरण व जलवायु वाले भागों में बसते हैं। इसके कारण उनका दृष्टिकोण समग्र व संवेदनशील है जिससे वे प्रकृति के चक्र को अच्छी प्रकार समझते हैं। पहाड़ी लोग भली प्रकार जानते हैं कि खेती तथा प्रकृति व सभ्यता एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह तालमेल उनके जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परम्परागत खेती में खुराक स्वास्थ्य तथा पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। क्योंकि पृथ्वी मनुष्यों को इतना कुछ देती है इस लिए उसको आदर की भावना से देखा जाता था। सारी भौगोलिक परिस्थितियाँ जो कि यहाँ के रहन सहन को प्रभावित करती हैं, उनका संरक्षण आवश्यक है। वहाँ पाये जाने वाले मिश्रित प्रकार के पेड़-पौधों से खास पोषक तत्व व उमस मिलती है जिससे जंगलों की सतह पर खाद बनती थी। इससे खेत उपजाऊ रहते थे और अच्छी फ़सल होती थी।

परम्परागत खेती में यह विशेष ध्यान रखा जाता था कि इन सबके बीच का संतुलन बना रहे। इस प्रकार स्पष्ट है कि जंगलों की जैव-विविधता जीवन के लिए अत्यन्त ज़रूरी है तथा इनकी महत्ता महसूस की जाने लगी और साथ ही इनका संरक्षण भी।

यमुना घाटी के रवाईं क्षेत्र में स्थित सुनारा गाँव की रहने वाली **अत्तरदेई**, जो कि ६० वर्ष की हैं, अभी भी खेती करती हैं तथा भैंस व भेड़ पालती है। वे परम्परागत खेती के तरीकों व अनाज के बारे में बताती है। **अत्तरदेई** से हमें पता चलता है कि बहुत से परम्परागत बीज अब बिल्कुल ख़त्म हो गए हैं।

"हम बैसाख के महीने में चटधान बोते थे। चटधान सेरा का धान है, बहुत स्वादिष्ट था! इसे हम बिना साग के खा सकते थे। उसका माँड़ भी पीने में स्वादिष्ट होता है। माँड़ में ही नमक, मिर्च, मट्ठा मिलाकर थोड़ा-सा छोंककर सब्ज़ी तैयार हो जाती थी। उसके साथ भात भी खा सकते थे। बिना दाल के भी, माँड के साथ, भात खा सकते थे। इसे कहते हैं मँडझोली का साग। अब तो बिलकुल खतम हो गया है यह बीज। अब साइकल धान बोते हैं। खाने में तो वह स्वादिष्ट नहीं है, पर उपज उसकी दुगनी है। जहाँ एक बोरी धान होता था अब दो बोरी धान होता है। इसका बीज जौनसार से लाया गया है। हमारे यहाँ एक बहू जौनसार से आई थी। वह अपने मायके से साइकिल बीज को लाई थी, तो हम सबने उससे इस धान के बीज ले लिये और उसे अपने धान, चटधान का बीज दिया। इसे साँटा-बाँटा कहा जाता है। इस तरह यह धान सब जगह फैल गया है।

"पहले एक और धान होता था। उसे हम 'दोफुट नाज' कहते थे। उसका दाना गोल होता है और साइकिल नाज का बीज बासमती नाज की तरह लम्बा होता है। लेकिन इस साइकिल का स्वाद तो चौपट है। थोड़ा सा खाओं और साथ में एक लोटा पानी पी जाओ! एक धान 'ग्यारसू' होता था। उसे अब बोते ही नहीं हैं। उस धान के चावल में सुगन्ध भी आती है।

"हमारे खेतों के लिये गाय का गोबर ही ज़्यादा अच्छा होता है। जंगल से सोतर भी लाते हैं। अब ज़्यादातर पिल्टू ही मिलती है। उसे भी घास की तरह यहां की महिलाएं इकट्ठा करके लाती है और पशुओं के नीचे बिछाती है। फुर्सत के समय महिलायें बाँज बुरांस के जंगलो से पत्तियाँ लाती है।

"घास को हम लोग पहले से ही काट कर रख देते है असूज के महीने मे। सारी सर्दी के लिये घास काटकर, उसे सुखा कर, पेड़ों पर संभालकर रख देते हैं। तब आराम से सर्दी में रहते हैं। जब सर्दी का मौसम खतम हो जाता है तब हम छानियों में अपने पशुओं को ले जाते हैं।

"छानियों में हम पशुओ को इसलिए ले जाते हैं क्योकि हमें गोबर चाहिये। वहाँ हमारे खेत हैं। खेत में गोबर खाद के काम आता है। हमारा सेरा वही है। खेत में खाद के लिये पशुओ को खेती के पास ही रखा जाता है। वहाँ से खाद खेत में ले जाने में सुविधा होती है।"

हम अपने बीज सुरक्षित रखते है

"गाँव में लोग रिंगाल एव चाई के बड़े-बड़े गोल टोकरे बनाकर, इसमें बीज रखकर, उनको चारों तरफ से गोबर से लेप कर अगली बुआई तक सुरक्षित ढंग से रखते हैं। कोई कीड़ा आदि नहीं लगता है। प्राचीन समय की परम्परा अभी भी कायम है।"

–**सत्ये सिंह**, गोनी गाँव, टिहरी गढ़वाल

"अब भी, बिना दवाई के बीज को सुखाकर साफ करके संभालते हैं। धान के बीज को फटककर, सुखाकर, साफ करके रखते हैं कुठार में। हम तो पहले उसमे राख या अखरोट के पत्ते डालकर रखते थे। तमाखू गेहूँ के भण्डार में डालते थे। मिर्चा भी रखते थे ताकि घुन न लग जाय उस पर। मसूर की दाल को तेल में मसलकर रखते थे। अभी भी ऐसा ही करते हैं।"

–**रामचन्द्री देवी**, पाटा गाँव, उत्तरकाशी

"गेहूँ को खूब सुखाते हैं। उसके बाद रख देते हैं। वैसे हमारे कुठार अलग किस्म के होते हैं। ज़मीन के अन्दर चिनाई की जाती है, फिर लकड़ी का सांचा उसमे फिट किया जाता है, यानी दीवार और फर्श पर लकड़ी फिट कर देते हैं। फिर अनाज रख देते है। इस कोठार में कोई कीड़ा कभी नहीं लगता। हमारे अन्न भण्डार को देखो, तुम इसी के ऊपर बैठी हो! तुम्हें पता ही नहीं चला! गेहूँ में और मक्के के बीज के साथ कीड़े से बचाने के लिये हम उसमें अखरोट के पत्ते ज़रूर डालते हैं। यह गोदाम बिल्कुल बन्द है। जब ज़रूरत पड़ेगी तभी खोलेंगे।"

–**टोंखो देवी**, लाखामण्डल, यमुना घाटी

जगत सिंह चौधरी (४४) कोट मल्ला के निवासी है जो कि अलकनन्दा घाटी के चमोली जिले में है। वे गत २० साल से इसी प्रयास में लगे हैं कि पहाड़ों पर लगे चीड़ के जंगल को बदलकर एक मिश्रित जंगल में परिवर्तित कर दिया जाय। इस दौरान उन्होंने ५६ प्रकार के पेड़ लगाए हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें स्वयं यह जागरूकता आई है। इनके जंगलों व प्रकृति के प्रति जो महान व गहरे विचार व भाव हैं वे उन्हें अपने पिता पक्ष के बुजुर्गो से विरासत में मिले हैं क्योंकि वे सभी प्रकृति के बहुत समीप थे। उन्होंने बुजुर्गो से सुन कर जंगलों व वहाँ पर मिलने वाली अथाह सम्पदा के बारे में ज्ञान प्राप्त किया है।

> "यह भी एक चिन्तन का विषय है कि हम प्रकृति से कितनी दूर चले गये हैं। हमारे बुजुर्ग प्रकृति के कितने समीप रहे। उनका खाना भी प्राकृतिक चीज़े थी–तिमला, बेडू, खैंणा, क्वरियाल (गुरियाल) की सब्ज़ी, सेंगल की सब्ज़ी व चन्द्रा घास की सब्ज़ी उन लोगों ने खायी है, लेगंड़ा उन्होंने खाये हैं। आज तो फूलगोभी का ज़माना है। ...सब्ज़ी उत्पादन में भी अब लोग ध्यान दे रहे हैं। पहले तो प्राकृतिक सब्ज़ियाँ ही बहुत थी, जैसे एक सीज़न तो हम तिमला की ही सब्ज़ी खाते थे, एक सीज़न लेंगड़ा, चन्द्रा, क्वरियाल, सेमल आदि की सब्ज़ियाँ खायी जाती थी। अब पेड़ तो बचे नहीं है, इसलिए सब्ज़ी खुद उगानी पड़ रही है। यहाँ पर विशेषतर आलू, प्याज, पालक, मेथी, धनिया आदि उत्पादित हो रही हैं।"

हाल ही में हुए एक सर्वेक्षण से यह पता लगा है कि गढ़वाल व कुमाऊँ

हिमालय क्षेत्रों में २४ प्रकार के फल, फूल, कलियाँ तथा पत्ते हैं जो कि यहाँ के वासियों की खुराक का हिस्सा हैं व तकरीबन १५ प्रकार के प्राकृतिक चारे हैं जो कि पालतू जानवरों के लिए हैं। यद्यपि जंगल व मिट्टी के गुण कम होते जा रहे हैं फिर भी यहाँ के वासी अपनी खुराक में कई किस्मों के पोषक तत्वों को बनाए रखने में समर्थ हैं। यहाँ के लोग वहीं पर उपलब्ध १४२ प्रकार के व्यंजनों का आन्नद लेते हैं जो कि उन्हें जंगलो व खेतों से ही मिल जाते हैं। ये लोग ३२ प्रकार की सब्ज़ियाँ अपने खेतों में लगाते हैं। जंगलों, खेतों में नौ प्रकार के मसाले मिलते हैं जो वे खाना बनाने में प्रयोग करते हैं। यहाँ १२ प्रकार में अनाज, १० तरह की दालें तथा आठ प्रकार के तिलहन हैं जो कि स्थानीय तौर पर उपलब्ध हैं।

जड़ी बूटियाँ और औषधीय पौधे

मनुष्य को हिमालय द्वारा दिया गया वरदान है वहाँ मिलने वाले नाना प्रकार के औषधियों में प्रयोग होने वाली वनस्पति। ये यहाँ के वातावरण व ऊँचाई के अनुसार मिलते है। पहाड़ के वासियों को सदियों का अनुभव है जिसके कारण वे बखूबी जान गए है कि किस पौधे से किस रोग का इलाज संभव है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी स्वदेशी इलाज पद्धति विकसित की है क्योंकि यहाँ आधुनिक विधि का अभाव है अतः वे इसी पद्धति से अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी समस्याएं सुलझाने में कामयाब हैं। यहाँ तक कि पशुओं का इलाज भी वे कर सकते हैं। यह सदियों पुराना लोक स्वास्थ्य ज्ञान वे मौखिक ढंग से ही अगली पीढ़ी को देते आए हैं, क्योंकि अधिकतर लोग अशिक्षित थे। लेकिन आयुर्वेद एक लिखित अत्यन्त पुरानी इलाज की पद्धति है जो कि जड़ी बूटिओं व खनिजों में पाये जाने वाले ओषधीय गुणों पर आधारित है और इस पद्धति से इलाज करने वाले वैद्य भी पहाड़ो में चिकित्सा करते हैं।

मोहन लाल उनियाल (६०) अब पहाड़ो में पाये जाने वाले गिने चुने वैद्यों में से एक हैं। हिमालय में पाये जाने वाले असंख्य पौधों व जड़ियाँ, जो कि औषधि बनाने में काम आती हैं, का असीम भंडार व ज्ञान उनके पास है। वह हिमालय की लोक स्वास्थ्य परम्परा के बारे में भी कुछ बताते हैं।

"करीबन २०० से अधिक वनौषधियों को मै जानता हूँ। ऐसी औषधियां जो तत्काल रोग को हटा सकती हैं। यहाँ बहुत सारी औषधियां ऐसी हैं, जो खेतों में पैदा की जा सकती हैं और ऐसी औषधि भी हैं जो जंगल में होती हैं। गिलोही है, सतावरी, मंडूपर्णा है, ब्रहमी है, वज्रदंती है। कुछ ऐसी औषधियां है जो सर्वसुलभ भी हैं, जैसे मजीठ है, जिसे मंजिष्ठा भी कहते हैं, जो सर्वसुलभ है। और उनसे तत्काल औषधी भी बनायी जा सकती है। हिमालय तो औषधियों का भण्डार ही है। वालमिकी रामायण में आया है कि जब हंनुमान जी जड़ियों को लाये थे तो वह हिमालय से ही लाये थे। हमारे पं. माया राम उनियाल जड़ी बूटियों के विषय में बहुत अच्छा जानते हैं। परिवार नियोजन के लिए भी बहुत सी अच्छी-अच्छी दवाइंयाँ यहाँ पर हैं। खास करके जो सिरों रोगों के लिए है, कुष्ठ रोग के लिए और रक्त रोगों के लिए बहुत ज़्यादा औषधियाँ है यहीं पर। सुन्दर-सुन्दर औषधि जैसे कृष्णा शरिबा है, खदिर तथा मंजिष्ठ है जो रक्त रोगों के लिए बहुत फायदेकारक है। फोड़ा, फुन्सी, बच्चों में दाद-खाज खुजली, चर्चिका और पागा है–यह सब को ठीक कर देता है, यहाँ तक कि कुष्ठ को भी ठीक कर देता है।

"यहाँ तो आयुर्वेदिक व्यवस्था ही ज़्यादा लोग जानते हैं किन्तु

यहाँ की बूढ़ी बूढ़ी औरतें भी बहुत सारी औषधियाँ जानती हैं और बना भी लेती हैं, जैसे केदारी, कड़वी, अतीस है। यह सब चीजें गाँव की औरतें जानती हैं, जैसे कि बच्चो के पेट दर्द की दवाई होती है वे स्वयं जानती हैं, और उससे तत्काल फायदा भी हो जाता है। कभी-कभी मैं आश्चर्य में आ जाता हूँ कि यह औषधी फायदा कर गयी और हम लोग जो जानकार है, डाक्टर लोग जो दूसरी दवाईयाँ देते हैं वह उतना फायदा नहीं करती जितना कि यहाँ कि जड़ी-बूटियाँ कर देती हैं। आश्चर्यजनक काम करने वाली बहुत सारी औषधियाँ हैं यहाँ पर।"

आज के युग में भी, जब कि स्वदेशी वनस्पति का ह्रास को गया है, लगभग सभी बुजुर्ग हमेशा याद करते है कि किस प्रकार उनके बचपन में पौधे व जड़ी-बूटियों से इलाज किया जाता था।

कालसा राम सेमवाल (५५) गंगी गाँव के समीप रहते हैं, जो खतलिंग ग्लेशियर के रास्ते में, भिलंगना घाटी में हैं। इस ऊँचे क्षेत्र में अभी भी प्राचीन जंगल का वरदान है जो कि विभिन्न प्रकार के औषधीय पौधों से भरा है और यहाँ के लोग इन्हें जानते व इस्तेमाल करते हैं। वह पहाड़ों का लोक स्वास्थ्य परम्परा के बारे में सुनाते हैं:

"सबसे कीमती यहाँ पर अतीस है, जो कि इस समय गंगी में ४००० रूपये किलो है। यह सभी बीमारियों में काम आती है, जैसे कि टाइफाइड, निमोनिया आदि। हमारे यहाँ बाहर की जितनी बड़ी-बड़ी कम्पनियां है, जैसे कि सनडोज़, बेयर इन्डिया

आदि वे उन्हें खरीदते हैं। जो गोली बनती हैं उन में कड़वेपन के लिये अतीस ही लगती है। ऐनासिन, एस्प्रो आदि में अतीस का उपयोग होता है। कड़वी पेट दर्द में काम आती है। बुख़ार चाहे गरम से हो या ठंड से, दोनो में अतीस काम आती है। अतीस का एक टुकड़ा लिया और पीछे से पानी पिया। तो बुख़ार ठीक हो जाता है। और वहाँ कूट होता है जो कि हृदय रोग और छाती में बलगम जमने को ठीक करता है। यदि कट गया तो उस जगह पर भी कूट घिसकर लगाया जाता है।

"लोगों को जब पेट दर्द होता है, तो वे कड़वी निकालकर उसे उबालते हैं और उसे पीते है। एक हाथाजड़ी तथा दर्दपंजा भी वहां की विशेष जड़ी है। ये ऐसी जगह में होती है जहां पर साधारण आदमी नहीं जा सकता है। इन जड़ियों को वहीं के लोग ही ला सकते हैं। उन लोगों को वहाँ की दवाओं की पहचान होती है। गाँव के लोग जड़ी बूटी खेतों में भी उगाएं। अतीस, कड़वी, बासी, आदि जड़ लाकर, जो कि सहस्त्रताल, खतलिंग वगेरह में होती है, उन्हें खेतों में लगायें।"

सदर सिंह परमार (७०) सर्प गाँव वासी हैं जो कि उत्तरकाशी, भागीरथी घाटी में है। जैसी की टिहरी राजसीय राज्य की प्रथा थी, वे ब्राह्मणों से ही पढ़े। उनके पूर्वज करीब आठ-दस पीढियों से सर्प गाँव में रहते आए हैं।

"हमारा जब बचपन था तब न यहाँ अस्पताल था न डाक्टर। उस समय यहाँ बहुत वैध रहते थे। उनके द्वारा ही घिस-पीटकर जड़ी-बूटी दी जाती थी। पहले एक आरचू होता था। यदि आँख

में कोई चोट लगने पर उसको अब भी डाला जाए तो बहुत बढ़िया है। आरचू कोई जड़ी होती है हिमालय में जो जाड-मार्च्छा लोग लाते थे बेचने क लिऐ। घाव और अन्दर की लगी चोट में भी फायेदमंद है। आँख के लिए तो विशेष फायेदमंद है। एक निर्विशी जड़ होती है। इसे भी वे ही लोग लाते थे और लोग खरीदते थे। जैसे अब कैंसर हो रहा है, जब घाव हो जाता था तथा ठीक नहीं होता था तो निर्विशी को घिसकर लगाने से घाव कम हो जाता था।

"एक चिरैता होता था जो कड़वा होता है। जिनको मलेरिया या टाइफाइड हो जाता था उसको उबालकर देते थे। लोगो का विश्वास था कि इससे ठीक हो जाता है तथा ठीक होते भी थे।

"एक सरनाहे होता था। उसके पत्ते, पंसारी आदि की दुकान में मिलते हैं। उससे दस्त होते हैं। जिसको तिजरी-चौजरी बुखार लगते थे तो उसके गले में जड़ी को धागे से बाँध देते थे। तो उसे भी यह विश्वास था कि इससे ज्वर टूट जाता है। इसके अलावा जीरा का प्रचलन था। चाय बहुत कम लोग पीते थे। जीरे को थोड़ा भूनकर या उबालकर पिलाते थे तो फायदा होता था। अब लोगों ने चाय पीना शुरू कर दिया है, लोगों का विश्वास भी उससे उठ गया है।"

तेग सिंह महन्त उत्तरकाशी के बिलोग गाँववासी हैं। उनके दादा-दादी जड़ी-बूटी से रोगियों का इलाज करके ही जीविकोपार्जन करते थे। तेगसिंह स्वयं गठिया के रोगियों का इलाज करते हैं। आयुर्वेदिक इलाज पद्धति में कुछ मंत्रों का भी उच्चारण करते थे।

"पहले मियादी बुखार (मलेरिया) आते थे। बुखार तोड़ने वाला कोई छोटा पेड़ होता था। कोई उसको उखाड़ता था तथा मरीज का बुखार टूट जाता था।

"एक जड़ है, नाम तो मैं उसका नहीं जानता हूँ पर पहचानता हूँ, वह गठिया वायु के रोग में काम आती है। मैंने उससे कई लोगों को ठीक किया है, बल्कि इस समय केदारनाथ के जो पंडे तिवारी जी हैं उन्होने कई लोगों को मेरे पास इस इलाज के लिए भेजा। बहुत लोग आये व फायदा भी हुआ।

"आँवला, हरड़ा, बहेड़ा का पहले मिश्रण बनता था। बुखार में वनस्पा के पत्ते की चाय बनाते थे। यह सर्दी जुखाम व बुखार में काम आता था। एक दूधिया घास होता है जिसकी जड़े घोटकर देते हैं तो फायदा होता है। एक कुरीग होता है जब फोड़ा होता है शरीर के विभिन्न हिस्सों में उसके मलहम से फायदा होता है। बल्कि मेरी दादी व पिताजी की यह रोजी-रोटी ही थी। उससे बहुत इलाज किया, व कोई, तो एक एक बोरी तक अनाज दे देता था।

मंत्र इस प्रकार से है:

'घिल्डा सिरान बल कौन पर बसे राजा,
शीशपाल बसे,
राजा शीशपाल का द्वी रानी,
द्वी रानी का सात पुत्र
सात पुत्र का चौदह फल।

पहले के उपचारों के बारे में बात करते हुए **जगत सिंह चौधरी** कहते हैं:

> "पहले वैद्य ही थे, बस। प्राकृतिक दवाइयां थी। ताज्जुब इस बात का है कि जो बीमारियां आज हैं वे पहले थी ही नहीं। और जो बीमारियां थी उनका इलाज जड़ी-बूटी से ही होता था। पुराने आदमी तो सभी अपने आप में वैद्य बने हैं। उन्हें पता है कि अगर हथियार से कहीं पर कट गया तो कुल्हाडकट्या की जड़ लगाओं, अगर पैर में मोच आ गयी तो मैदालकड़ी लगाओं।"

बचनदेई, ७० साल की है और अभी भी खेती करती हैं। टिहरी में धारवाल गाँव जहाँ वे रहती हैं वहाँ केवल पैदल पहुँचना ही सम्भव है, क्योंकि यह सड़क की सतह से ३ कि.मी. ऊँचा है। आम बीमारियों का कैसे इलाज होता था व किन स्थानीय उपचारों व बूटियों का प्रयोग किया जाता था इस बारे में यह बताती है:

> "जब बीमार होते थे तो जीरा कच्चा पक्का भून कर खा लेते थे या उबालकर भी पीते थे। बुखार, पेट दर्द में तो खासकर कच्चा पक्का जीरा तवे के उपर भूनकर प्रयोग करते थे। एक सनाय की पत्ती को उबालकर पीते थे उससे पेट साफ होता था। किराल की फलियों के बीज को सना की पत्तियों में पीस कर खिलाते थे। इससे भी पेट साफ होता था। एक होता है कड़वी की जड़ें जिन्हें बुखार में देते थे। बच्चों को बीमार होने पर केदार कड़वी को घोट कर पिला देत थे। पेट दर्द होने पर हम कहते

थे कि जोंक हो गयी है। बच्चे को तो हरियाल एक कड़वी घास होती है, उसे घोट कर पिलाते थे। बच्चे ठीक हो जाते थे।"

उमराव सिंह का पारम्परिक व्यवसाय व्यापार है किन्तु वे पिंडरघाटी के देवलकोट में खेती करने के लिए बाध्य हैं। पौराणिक संजीवनी बूटी यहाँ से किस प्रकार ले जाई गई इसकी वह एक अत्यंत मज़ेदार कहानी सुनाते हैं:

"नीती में दूनगिरी (द्रोणागिरी) पर्वत है जहाँ से हनुमानजी संजीवनी बूटी लाये। जब जा रहे थे, तो कहते है कि लंगासू के निकट (कर्णप्रयाग के निकट) भरत जी तपस्या कर रहे थे। उन्होने जब देखा (हनुमान जी को) तो उन्होने राक्षस समझकर बाण मार दिया। तब से वहाँ लंगासू के पास एक जगह पर एक वनस्पति (झाड़ी) उगती है जो कि केवल नीती घाटी में होती है। ऐसा सुना जाता है कि द्रोणागिरी गांव में (जो नीती में है) अभी भी श्री हनुमान जी की पूजा नहीं करते हैं क्योंकि वे वहाँ की जड़ी-बूटियों का पूरा ही पहाड़ उखाड़ कर ले गये। अभी भी वहाँ टूटा हुआ हिस्सा देखा जा सकता है।"

"सामुहिक आय के स्रोत तो जंगल ही थे। वहाँ से फर्न, चौरा, ऊतीस, कड़वी आदि लाते थे। उन्हें हम जमींदार (किसान) लोगों को देते थे और उनसे अनाज लेते थे।"

देवकी, तोलचा जनजाति की एक महिला हैं जो चमोली क्षेत्र के बिजार गाँव में रहती है। वह जुमला जड़ी बूटी का ज़िक्र करती है जिसकी सब्ज़ी भी स्वादिष्ट होती है।

"यह बाहर बहुत मेंहगा बिकता है। २५००-२६०० रूपये किलो बिकता है। मुझे यह कभी मिला नहीं। यह बहुत दूर मिलता है, ढूँडना पड़ता है। यह आसानी से नहीं मिलता इसलिए इतना महंगा बिकता है। लोग ग्रुप बनाकर जाते है इसे ढूंडने। खूब ऊँचाई में जाकर मिलता है। पर ग्रुप में किसी-किसी को ही कुछ मिलता है, किसी को पूरे दिन भर घूमने के बाद ४-५ जुमला ही मिल पाता है।"

कुछ समय पूर्व तक इन्हीं औषधीय पेड़-पौधों के कारण लोगों का जीवनयापन होता था। पहाड़ों के अद्‌भुत भंडारों को बचाने के लिए जो राष्ट्रीय उद्यान व अभ्यारण्य बनाए गए हैं उनके फलस्वरूप यहां के वासियों का जो पारम्परिक व्यवसाय था उससे उन्हें पूरी तरह वंचित कर दिया गया है। इसके बजाय वनविभाग ने यह अधिकार ले लिया कि इन जड़ी-बूटियों व पौधों को यहां से निकालकर निर्यात करने का ठेका दिया जाय। स्थानीय लोग किसी समय इन बहुमूल्य जड़ी-बूटियों के संरक्षक थे लेकिन अब उन्हें इलाज के परम्परागत तरीके छोड़ने पड़े हैं और उनका स्वदेशी ज्ञान जो कि इन समुदायों में था वह भी ख़त्म हो गया है। इस नुकसान की किसी प्रकार से भी क्षतिपूर्ति करना संभव नहीं है।

प्रकृति और संस्कृति

पहाड़ों का इलाका कठिन व कुछ भयंकर भी है। इसलिए हिमालय में रहने वाले लोग अपने प्राकृतिक वातावरण के प्रति काफी सतर्क हैं। तथा साथ ही साथ उनका रवैया श्रद्धापूर्ण भी है क्योंकि उन्हें कड़ाके की सर्दी, मूसलाधार बारिश, भूसखलन, बर्फ पिघलने से नदी नालों में आने वाली बाढ़

आदि का सामना करना पड़ता है। अतः इन लोगों ने बहुत सफल संरक्षण के तरीके अपनाएँ है। यहाँ की मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक भूभाग के साथ कुछ न कुछ धार्मिक मान्यताएँ जुड़ी हैं जिससे इनके ह्रास को रोका जा सके जो कि वनों के काटने, खोदने, बांध बनाने या प्राकृतिक झरनों को दूषित करने आदि किसी भी प्रकार हो सकता है। प्रत्येक पहाड़ की चोटी पर एक देवी का मन्दिर है जहाँ पवित्र वृक्ष पाये जाते हैं, जहाँ से बीजों का भंडार प्राप्त होता है। प्रत्येक नदी-नाले का उद्गम दैवीय गंगा से होता है और उसी का नाम चलता है। ऊपरी इलाके में जहाँ पानी एकत्रित होता है, उसकी तुलना शिवजी की जटाओं से की जाती है जिन्होंने गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतारा था तथा उस इलाके को पवित्र व पूरे जीवन का आधार मानते है।

यहाँ के लोगों का जीवन पूर्णरूप से यहाँ की धीरे-धीरे उगने वाली वनस्पति पर निर्भर है। इसलिए यहाँ के पेड़ो, फूलों, फसलों के साथ कुछ न कुछ धार्मिक मान्यता जोड़ कर उनको महत्वपूर्ण समझकर उनका संरक्षण किया गया है। इनके पर्वों में भी प्रकृति, मौसम तथा खेती के चक्र को बहुत श्रद्धा व आदर से मनाते हैं। पहाड़ वासियों की लोककथाओं व मान्यताओं में पवित्र वृक्षों व जड़ी बूटियों का वर्णन किया गया है। पवित्र पदम के पेड़ों, बाँझ व पीपल को देवी देवताओं का प्रिय माना गया है, जिन्हें देववन भी कहते हैं, जैसे कुमाऊँ के जोगेश्वर में स्थित, पवित्र नदियों के सगंम पर देवदार के वृक्ष हैं। ऐसी मान्यता है कि वे ही पहाड़ी नदियों को पवित्र तथा सुरक्षित रखते हैं। इन सबकी पूजा अर्चना व संरक्षण किया जाता है। इन्ही से भविष्य में बीजों का भंडार उपलब्ध होगा।

हीरा देवी, ५३ वर्ष की भोटिया महिला हैं जो कि गढ़वाल में चमोली जिले

के गडरिये समुदाय की हैं। अप्रैल के महीने में जब गर्मी शुरू होती है तो अपने समुदाय के साथ वे हिमालय के ऊँचे चारागाहों की ओर चली जाती है और सर्दियों में वे नीचे के क्षेत्र, वौना गाँव में आती हैं जहां वह अपनी छानी में रहती हैं। वह एक दक्ष बुनकर है, और जहाँ तहाँ अपनी पीठाचान कमर से बाँधकर ले जाती है। ऊपरी इलाकों में गडरियों का जीवन कभी आसान नहीं होता, फिर भी भारी हिमपात व बर्फीले मौसम के बावजूद वे वहाँ जाते हैं क्योंकि उन्हें वहाँ के ऊँचे पहाड़ी चरागाह, जहाँ खूब घास व बूटियाँ मिलती हैं, जहाँ सुन्दर फूल व मनोहारी वातावरण है, अत्यन्त भाते हैं।

"ऊपर गमसाली में बहुत अच्छा लगता है। वहाँ तो स्वर्ग है। मच्छर-मक्खी तक का प्रवेश नहीं है वहाँ। बीमारी कुछ नहीं होती है। यहाँ तक कि खुजली भी नहीं होती। वहाँ का वायुमण्डल एकदम साफ है। स्वच्छ भूमि है। हमारा मन नहीं करता वहाँ से आने का।

"भोजपत्र को हम पूजा में प्रयोग करते है। वृक्ष पूजा तो नहीं होती है। भूम्याल देवता की पूजा जब होती है तो बाहर रहने वाले बच्चे ज़रूर घर आते हैं और ऊपर घमसाली ही पहुँच जाते है। भूम्याल देवता की पूजा में हम छांग का प्रसाद चढ़ाते है। छांग का मतलब हमारी घरेलू शराब। झँगोरा से बनी शराब ही उस देवता को चढ़ाते हैं। लकड़ी का कटोरा होता है, उसे जोरू कहते हैं। एक सफेद ऊन की बत्ती बनाकर रखते हैं। उस पर एक कोने में घी लगाते है तब उसी जोरू से एक दो बूँद छांग डालते हैं। उसे बत्ती पर भी डालते हैं। फिर भूम्याल देवता को चढ़ा देते हैं। पूजा करते समय हम सब लोग प्रसाद के रूप में वहीं

छांग हथेली में लेकर पीते हैं। जो अब नहीं पीना चाहता उसे चरणामृत की तरह चख लेता है। लेना अवश्य हैं।"

उत्तरकाशी ज़िले में पाटा गाँववासी, **रामचन्द्री देवी**, बताती हैं कि किस प्रकार के खेतों व भूमि की पूजा करते थे।

"खेत की पूजा वसन्त पंचमी के दिन होती है। चैत के महीने में होती है। उस दिन दारांती, कुदाल, फावड़ा, हल का फल खेतों में ले जाते हैं। तथा घिल्डे में गोबर भी ले जाते है। पाथे में थोड़ा अनाज के दाने डालकर और पैयां वृक्ष के पत्ते भी साथ ले जाते हैं। इन सबकी पूजा खेत में की जाती है। मिट्टी की पूजा भी की जाती है। जौं और तिल से पूजा की जाती है। छिल्डे के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। पाथे में दीपक जलाया जाता है। घर में ब्राह्मण हल की पूजा करते हैं, खेत में हम स्वयं करते हैं। ब्राहमण इस दिन पंचाँग को देखकर मौसम और फसल की उपज के बारे में वर्ष भर की जानकारी देता है। हम लोग अच्छी उपज के लिये खेतों की पूजा करते हैं।

"जब घर में बेटे का जन्म होता है तो उस घर के सभी बड़े सदस्यों को बधाई देने के लिए लोग घर में जाते हैं। उन्हें दूब घास के कुछ तिनके दिये जाते है, जिसे वे लोग अपनी टोपी में सजा देते हैं तथा महिलायें सिर पर बंधे साफे पर सजाती हैं। हम बेटों के लिये ही करते हैं क्योंकि बेटी तो शादी के बाद दूसरे घर चली जाती है। घर खाली हो जाता है। बेटा अपने घर का वंश आगे बढ़ाता है। दूब घास की जड़ कभी नष्ट नहीं होती है,

वह हर जगह उग जाती है। कैसी भी परिस्थिति हो, दूब घास की जड़ पनप ही जाती है। इसलिये लोग वंश वृद्धि के लिये प्रतीक के रूप में बेटे के जन्म उत्सव पर दूब घास बधाई के साथ देते हैं। आज तक हमारे यहाँ चैत के महीने में एक गीत गाया जाता था कि

"त्वै देलू भाई में दुबला की जड़,
त्वै बाई का ह्वै जाला पच्चीस निन्याल।"

इसका अर्थ है कि तुझे मैं दूब घास की जड़ इस शुभकामना के साथ देती हूँ कि तेरी पच्चीस संतान होवे। अब पच्चीस संतान नहीं चाहिए ! अब समय अलग है पहले की बात अलग थी। उस समय खेती के काम करने के लिए बहुत सदस्यों की आवश्यकता होती थी इसलिए ऐसी कामना के गीत बन जाते थे। हम उन गीत गाने वालों झुमरया को वुझकुटा देते थे, चूड़ा देते थे। यह हमारा रिवाज़ था पहले। दूब घास तो बधाई में अवश्य देते हैं, आज भी।"

किसी जमाने में बहुत जंगली फूल होते थे जिससे महिलाऐं व बच्चों के त्योहार और भी मनोरम व सुन्दर हो जाते थे।

"पहले भी हम लोग आठ दिन तक सुबह के समय फ्यौली के फूल के साथ अन्य फूल डालते थे। फूल पहले चूल्हे के ऊपर डालते थे, उसके बाद देहली के दोनो तरफ डालते थे। मन्दिर की देहली पर भी डाला जाता था। अब तो कोई कोई ही डालते है, सब नहीं डालते है। हम फूल खाली बर्तन पर नहीं लाते थे। बर्तन में थोड़े से चावल के दाने डालते थे। खाली बर्तन में फूल लाना फूल का अपमान मानते थे।"

राधा कृष्ण सेमवाल, ग्राम खवाड़ा पट्टी बासर (टिहरी) के निवासी कहते हैं:

"यहाँ प्रकृति अत्यन्त दयालु व उदार है। एक प्राचीन शिव मन्दिर है, मलेश्वर, जहाँ एक झरना है। वहाँ सालभर पानी होता है। यह स्थान बहुत सुन्दर है और इसके अतिरिक्त यहाँ खेती बहुत अच्छी होती है। जहाँ तक मुझे याद है, दूर-दूर से लोग यहाँ अनाज खरीदने आते थे। जीविकोपार्जन का प्रमुख आधार खेती ही रहा है। पहले सब लोग खेती करते थे, नौकरी किसी के पास नहीं थी। हम २-३ पट्टियों को अनाज भेजते थे।

"यह कहा जाता है कि बासर पट्टी में १२ महादेव रहते हैं और उन्ही के कारण इसका नाम बासर पट्टी रखा गया है। यह जगह अत्यन्त रमणीक है। चारों तरफ मन्दिर हैं–राजेश्वर, ज्वालामुखी और नीलेश्वर। पहले जब भी हमें सिंचाई के लिए पानी की ज़रूरत होती थी तो हम देवी देवताओं की पूजा करते थे और बारिश आ जाती थी। अब हमें अपने देवताओं में भी विश्वास नहीं रहा और न ही हम उनकी पूजा करते हैं। मेरे विचार से तो सदाचार सम्बन्धी मान्यताओं में गिरावट के कारण ही मौसम में बदलाव आ रहा है।"

बचनी देवी, आदवाणी गाँव की एक अत्यन्त धार्मिक महिला हैं। वे अपने जीवन में अपने देवी-देवताओं में श्रद्धा को अत्यन्त ही सादे तरीके से बयान करती है। कुछ स्थानीय धार्मिक मान्यताओं का वर्णन करते हुए बचनी देवी कहती हैं:

"जौं अंकुरित करते हैं देवता के लिए। मान्यता तो यही है कि

भगवती ने जौं अंकुरित कर दिये हैं। यानी अपना 'दृष्टा' (दर्शन) दे दिया है पूजा स्थल में। सब सिर में हरियाली को रखते हैं, क्योंकि वही अंकुरित करती हैं! हरियाली ही भगवती हैं। हम उसकी पूजा-पाठ करते हैं। वही अपनी शक्ति से उस जगह में अपने दर्शन देते हुए बीजों को अंकुरित करती हैं।

"जब पूस के महीने (जनवरी) में संक्रांति होती है तब ऐसे ही खिचड़ी तथा पकोड़ी बनाते हैं। जब फूलों के महीने (चैत्र) में फूल डालते हैं तब पापड़ी बनाते है। हिन्दी नववर्ष की शुरूआत में, चैत मास में, गढ़वाल में पूरे महीने भर छोटी-छोटी लड़कियाँ रंग बिरंगे फूलों को तोड़कर, छोटी-छोटी विशेष प्रकार से बनी रिंगाल की टोकरी में, सूर्योदय से पहले अपने और अन्य लोगों की देहली पर इन फूलों को डालती है। इसे हमारी संस्कृति में नये वर्ष का स्वागत का प्रतीक, और घर की सुख-शांति और समृद्धि के लिये शुभ माना जाता है।

"दीपावली में भैला खेलते हैं। पहले जंगल से लगली लाते है। (लगली जंगल में पाये जाने वाली एक विशेष प्रजाति की लचीली बेल होती है और इसमें कभी आग नहीं लगती)। फिर छिलके लाते हैं (चीड़ पेड़ का वह हिस्सा जिससे लीसा प्राप्त होता है)। फिर इन लगली तथा छिलकों को बांधते है। तब छिलकों पर आग लगाकर खूब घुमाते है। घुमाते ही रहते है बहुत देर देर तक।"

"और वैशाख के महीने में थौल (मेला) होते हैं। मेले खुशी और प्रसन्नता के कारण होते हैं, जहाँ सभी लोग एकत्रित हो जाते हैं, मेला देखते हैं। अपने नऐ कपड़े पहने, रूपये-पैसे जेब में रखकर, खुशी से सब एक जगह इकट्ठा हो जाते हैं। काफी लोगो से भेंट हो जाती है। शाम को अपने-अपने घर आ जाते हैं।"

सामुदायिक जीवन तथा आत्म निर्भरता

पहाड़ो पर रहने वाले लोगों का जीवन एकाकी तथा अलग थलग होने के कारण वे आत्म निर्भर व अपने वातावरण को एकदम नए ढंग से प्रयोग करने के लिए बाध्य हो गये हैं। हिमालय के कई हिस्सों में प्रकृति अत्यन्त उदार व दयालू है और पहाड़ी लोगों ने अपने आप को कठिन परिस्थितियों में रहने के लिए बखूबी ढ़ालने के साथ ही साथ यह भी सीखा है कि प्राकृतिक संसाधनो का प्रयोग कैसे अच्छी प्रकार व सूझबूझ से ही किया जाए। कई सदियों पुराने अनुभव से प्रत्येक पेड़, जड़ी-बूटी, फूल और बीजों के गुणों को वे अच्छी प्रकार जानते है। धीमी गति की जीवन चर्या से उनका ज्ञान व समझ बहुत गहन हो गया है। कुछ समय पूर्व तक सड़कें एक अजूबा थीं और गाँव वाले पैदल ही दूरदराज के इलको में व्यवसाय करने जाते थे या नीचे उतरते थे। अब बाहरी संस्कृतियाँ व दबाव आ रहे हैं। और पारंपरिक कलाएँ व ज्ञान नष्ट हो रहा हैं।

यगजंग एक ५६ वर्षीय भोटिया महिला हैं जिनका सेब का बाग है और वे एक दक्ष बुनकर भी है। जैसे कि भोटिया समुदाय की प्रथा है, हर साल यगजंग अपने परिवार व पशुओं के साथ भागीरथी घाटी में हरसिल व डुण्डा के बीच आती जाती है जहाँ चरागाह है। यगजंग अपने तथा अपने बुजुर्गों के जीवन के बारे में बताती हैः

> "वहाँ (हरसिल में) बहुत अच्छा है। भेड़-बकरी चुगाने के लिये दूर नहीं जाना पड़ता है। वहाँ जैसे पानी बहता है, वैसे ही दूध की नदियाँ बहती थीं। घास ही घास है। पशु आराम से पल जाते हैं।

"यहाँ ऊन का काम करते हैं–ऊन कातना, काढ़ना, बुनना, सब काम होता है। बुनने का काम हमारे दूसरे लोग करते हैं। हम ऊन कातकर उन्हें देते हैं। हम ऊन भोटिया तिब्बतियों से भी खरीदते थे। वहाँ से हमारा व्यापार चलता था–ऊन, नमक हम खरीदते थे, और उन्हें खुमानी देते थे। फाफरा, ऊवा, जौ वे हमसे खरीदते थे। ये फसलें होती थी। फाफरा से हम पोली बनाते हैं।

"ऊन से आय ज़्यादा कहाँ निकल पाती है? बुनाई ही बहुत पड़ जाती है। ऊपर से बुनकर (कोली) थोड़ा ऊन भी बचा देता है। पड़ियाली में हमारा ऊन कातने का काम होता है। १०-११ चर्खे एक साथ चलते हैं। इसी तरह सबकी ऊन कत जाती है। ऊन कातते समय गीत भी गाते हैं।"

पहाड़ी समाज की अपनी व्यवस्था

"जंगल के पास की बंजर भूमि को गांव वाले आपस में घास के लिये बांट लेते हैं। सब लोग अपने-अपने एरिया से ही घास काटते हैं। वही हम बन्द भी करते हैं। फिर निश्चित दिन में बंद वन खुलता है, और सब अपना-अपना घास काटते हैं और सर्दियों के लिये जमा करके रख देते है।"

–जलमा देवी, कोठियाल्ड गाँव, भागीरथी घाटी

पहाड़ के वासियों ने बहुत परिश्रम करके अपने जीवन को आत्मनिर्भर बनाया है और हर प्रकार से लाभकारी भी। गमसाली की **हीरा देवी,** अन्य भोटिया महिलाओं की भांति एक दक्ष बुनकर हैं। वे केवल बढ़िया किस्म के कालीन व पंखी ही नहीं बनाते थे, जो कि तिब्बत व चीन में बहुत बिकते

थे, इसके अतिरिक्त वे कई प्रकार के डिजाइन बनाते थे और स्थानीय पेड़-पौधों व खनिजों से प्राप्त रंगो से ऊन की रंगाई भी करते थे।

"ये रंग हमारे अपने होते थे। ये रंग सब जंगल से मिल जाते हैं। कई बार ये देशी रंग निकल जाते हैं, पर हमारे प्राकृतिक रंग पक्के रहते हैं। लाल रंग को डोलू कहते हैं। यह तो बहुत पक्का रंग है। धोकर भी नहीं निकलता है। डोलू का जड़ खोदकर लाये, पानी में खूब खौलाकर रंग निकल आता है। उसके बाद ऊन डुबाते हैं। ऊन जब तक पूरा रंग नहीं सोखती, तब तक उसे बाहर नहीं निकालते। ऊन को भी चूल्हे पर पानी के साथ पकाते हैं। पूरा रंग सोखने के बाद निकाल देते है। अब के रंगो में तो किसी के साथ नमक डालते हैं, किसी के साथ तेजाब चाहिये। हमारे रंगो को तो सिर्फ उबालना पड़ता है।

"पहले कष्ट भले ही ज़्यादा थे पर हम स्वतंत्र थे। किसी भी चीज़ के लिये ऐसी व्याकुलता, बेचैनी नहीं थी जैसी कि आज के युवाओं में है। हम खुश रहते थे। हमें किसी भी बात के लिये, काम के लिये जल्दबाज़ी नहीं थी। हम लोग तो अपने ऊन के धन्धे को अपनी गति से करते थे। ऊन धोना, उसे सुलझाना, काढ़ना, कातना फिर बुनना चलता रहता था। पहले पीठुचाँद से भी कपड़ा बुनते थे। हमारे यहाँ सबसे पुराना तरीका यही था। हम १२-१३ हाथ के कालीन बनाते थे, एक दूसरे का सहयोग करते थे उसके बाद हम फेरी वालों की तरह कालीन बेचने निकलते थे।"

इन्द्र सिंह फोनिया (६०) गमसाली वासी, लगातार रामनगर कोटद्वार और तिब्बत के बीच अपने व्यवसाय के लिए घूमते थे। वे परम्परागत कताई व बुनाई करते हैं और एक बहुत ही स्पष्ट चित्र खीचते हैं कि किस प्रकार उनका तिब्बत के साथ बहुत अच्छा व्यवसाय थाः

"अधिकांश व्यापार तो वस्तु विनिमय प्रणाली पर चलता था। यहाँ से अनाज कपड़ा, भैली, रासन व कुछ छोटी-मोटी अन्य वस्तुयें ले जाते थे। और वहाँ पर ऊन प्राप्त करके नीचे लाते थे। विशेषकर हमारा ऊन पहाड़ ही में बिकता था। ...कपड़ों का मूल्य बढ़ा तो ऊन का मूल्य भी बढ़ता था। कुछ तो हमारे मित्र थे, जिनके साथ हमारा इकरार होता था, या लिखा जाता था–ऐसा होता था कि वो दूसरे को अपना सामान नहीं देते थे। वो अपना नमक लेकर आते थे गांव में, वहाँ पर आके नमक की बराबरी में अनाज देना पड़ता था। एक पाथा (दो किलो) नमक लेंगे तो एक पाथा अनाज देना पड़ेगा। साथ में वो ऊन वाली भेड़ भी लाते थे तो उसका मूल्य भी आठ आना (५० पैसा) होता था उस ज़माने में।

"हमारा परम्परागत ज्ञान तो ऊनी वस्त्र बनाने सम्बन्धी ही है। वह आज भी सुरक्षित है। ...पुराने ज़माने में पीठ पर टिकने वाले करधों (पिठाचांन) से हम अपने कपड़ों को बनाते थे। पिठाचांन आज कही देखने को नहीं मिलता है। ...सन् १९५० के आस-पास हमारे यहाँ श्री उदयराम पुरोहित आये कताई-बुनाई विभाग से। तो इनके प्रयत्नों से वहां पर गलीचे के नये नमूने बने। उसके बाद वे माणा गाँव में गये तो वहाँ भी इन्होंने प्रयत्न

किया। बनाने को तो लवा, पंखी, चुटका, गुदमा, गलीचा, व आसन्न यह मुख्य हैं, बाकी कोट की पट्टियां बनाते हैं। स्वेटर इत्यादि भी बनाते हैं।

"मैं तो अपने आप में यहाँ से जाना बिलकुल पसन्द नहीं करूंगा। मैं बहुत बार मैदानी क्षेत्रों में हो आया हूँ। मुझे मैदान का जीवन बड़ा अटपटा लगता है। जो शान्ति हमारे यहाँ है वो मैदान में नहीं है। मैने कई बार मैंदानी इलाके में जाकर किसी नुक्कड़ में खड़े होकर वहाँ के जीवन को देखा। वहाँ जानवर से लेकर आदमी तक एक मशीन की तरह चलते हैं। ऐसा हमारे पहाड़ में नहीं है। मुझे बहुत दुविधा होती है कि ये लोग कैसे जीते हैं? हमें तो यहीं का जीवन पसन्द आता है। अगर आदमी अपने को ठीक ढंग से ढाल दे, अगर आधुनिक चकाचौंध में न रहे तो पहाड़ी जीवन ही श्रेष्ठ है।"

विसोई, जौनसार वासी, **असूजी देवी** (५०) एक स्वतंत्र प्रकार का जीवन व्यतीत करती हैं। उनके पास जौनसारी जीवन, परम्पराओं व संस्कृति के ज्ञान का भंडार है जो कि अन्य पहाड़ी जातियों से एकदम पृथक है। वे अपने समाज का एक चित्र दिखाती हैं:

"घर के काम से सम्बन्धित सामान सब स्वयं ही गाँव में बनाते हैं। धान कूटने का घुत्तू पत्थर का है जिसे ओखल कहते है, हम खुद बना लेते है। रिंगाल की बिसाई भी बना लेते हैं। रस्सियों का बना पिट्ठू (जो फोल्ड हो जाता है) अपने आप बनाते हैं। झाड़ू कई किस्म के, चूल्हा लीपने का, घर पर पुताई करने का (बड़े-बड़े

कूचियाँ) घर बुहारने का, सभी तरह का सामान हम लोग बना लेते हैं। अपने गांव के कोलटे जाति के लोग ये बनाते हैं विसाई डालके (रिंगाल के बनी डिब्बे जैसे टोकरी)। रस्सी तो हर व्यक्ति खुद बना लेता है।"

युमना घाटी में सुनारा गांव के युवा शायद नहीं जानते कि किसी समय यहाँ कपास होती थी। **अत्तर देवी** कपास की खेती व कताई के बारे में बताती है:

"हमारे समय में तो हम लोग कपास रूई अपने आप बोते थे और ओटवा पर रूई को ओटते थे (ओटवा-रूई से बिनौला अलग निकालने का चर्खा) और अपने आप रूई को धुनते थे। लकड़ी का धनुष होता था उस पर रूई को छिटक-छिटक कर धुनते थे। अब तो मशीन लगी है नौगांव में। अपने आप रूई कातते थे। सूत अपना होता था अपने वस्त्र के लिये। ...सूती बुनकर यहाँ तो नहीं थे। केवल धारी गांव में थे। यहां से लगभग ३ किलोमीटर दूर होगा। उन बुनकरों को हम खलतु (हर नई फसल में बुनकरों को घर के खलिहान में ही उनका हिस्सा दिया जाता है) देते हैं। यह निश्चित देना ही पड़ता था। साथ ही जब वह हमारा कपड़ा बुनकर घर लाता था तब भी हम उसे थोड़ा अनाज देते थे। खाना खिलाते थे। पैसा-वैसा का कोई मतलब ही नहीं था।

"रिंगाल से घिल्डे बनते थे। गोबर भी इसी में भरते है। खेतों में गोबर डालने के लिये घिल्डे का प्रयोग करते हैं। ढुण्डी बनती है, टोकरियाँ बनाते हैं जो रसोई के काम में आती हैं। और भी कई बर्तन बनाते हैं। बिसाई बनाई जाती है अनाज सुखाने के लिये।

"अब भी हम रिंगाल का सामान इस्तेमाल करते हैं। इनका और ऊन का सामान तो हम अपने आप बनाते हैं। ऊन हम खुद धोते हैं, कातते हैं, इसमे ढुण्डी का इस्तेमाल होता, इधर उधर जाते वक्त हाथ में ढुण्डी लटका देते है और चलते-चलते या गपशप करते समय ऊन उसमें रखी रहती है। हाथ से तकली ऊन कातती रहती है। काम चलता रहता है।

"हम अब भी एक दूसरे के काम में मदद देते हैं। हम इसे बीठ देना कहते हैं। किसी का अगर घर बनता तो उस की छत को बनाने के लिये बाँस जंगल से मिलकर लाते हैं। घर की छत को छाने के लिये पठोल व अन्य सामान भी सब गाँव वाले मिल कर लाते है।"

उत्तरकाशी के पाटा गाँव में रहने वाली **रामचंद्री देवी** कुछ अन्य उन व्यवसाओं का वर्णन करती हैं जो जैव विविधता पर आधारित थे व जिनसे ग्रामीण जीवन संपूर्ण होता था।

"हल के फल, दोरा (पशुओं को चारा खिलाने का बर्तन) गाँव वाले खुद बना लेते हैं तथा दरांती, कुदाल हम गंगोरी से लाते हैं। हमारा लोहार वहीं है। उसे हम डंडवार देते है (फसल के समय उसका हिस्सा)। छः महीने में १२ पाथा (२४ किलो अन्न) प्रति परिवार देते है। गेहूँ तो छः पाथा ही देते हैं। अब अगर वह पैसा माँगता है तब हम उसे डंडवार नहीं देते हैं। एक दरांती ५-५ रु. की देता है बड़ी दरांती १० रु. की। अगर एक दिन पूरे काम करता है तो उसे १०० रु. देते हैं।

"घिल्डा बनाने का काम कुछ तो हमारे ही गाँव के है पर ज़्यादातर केलसू-भंकोली के गांवो से बन कर आते है। ७-८ पाथा धान देकर खरीदते हैं। रस्सी हम भिमल वृक्ष की छाल से बनाते हैं। या फिर कभी-कभी खरीद लेते है।

"पत्थर का हम सिलबट्टा बनाते हैं। किसी-किसी की अपनी खान है, पत्थरों की वे खुद ही सिलबट्टा बनाते हैं और अन्य लोग खरीदते हैं। १०० रु. का आता है ये। ऊखल पत्थर की हम ही बना लेते है, गाँव में। धान सब लोग अक्सर ऊखल में ही कूटते हैं। १०० रु. के छोटे परोठे और बड़े परोठे ५०० रु. के बनाये जाते हैं। सब चीज़े बाहर से ही खरीदते हैं। यहाँ अच्छी तरह से सभी वस्तुऐं (कच्चा माल) उपलब्ध नहीं हो पाती है। जंगल में चीड़ ही ज़्यादा है। मेरे मायके जामक गांव में तो सब कुछ है। इसलिये वहाँ के लोगों को खरीदना नहीं पड़ता है।"

मालमंती (६८) एक बहुत मेहनत करने वाली साहसी महिला हैं जो गढ़वाल के अलंकनन्दा घाटी के चमोली में बिजार गाँव में रहती हैं। स्थानीय फलों व बीजों से कैसे तेल निकाला जाता है इस बारे में वे बताती हैं:

"हम लोग भेंकल और किरोलू का तेल निकालते हैं। भेंकल की गिरी का तेल तो बहुत स्वादिष्ट होता है। उसे हम सीधे रोटी में घी की तरह खाते हैं। भेंकल और किरोलू जंगली झाड़ियाँ है। हम आड़ू का तेल भी निकालते है। सब्ज़ी छोकने के काम आता है। किरोलू के तेल से भी सब्ज़ी छौकते हैं। तेल हम अपने आप ही घर पर निकालते हैं। इसके लिये एक स्पेशल लकड़ी का बड़ा

लम्बा सा बर्तन होता है। हम उसे ढ्यूटा कहते है। खुद भी बना लेते हैं और दूसरे व्यक्ति से, औखल-मसल जिनसे बनवाते हैं, उन्ही से उस ढ्यूटा को भी बनवा लेते है। हरिजन लोग बनाते हैं। उनसे हम खरीदते है। आड़ू के तेल को हम सिर में भी लगाते है। चूलू का तेल भी निकालते है। उसे भी हम खाने के लिये प्रयोग में लाते है। अखरोट का तेल हम नहीं निकालते। ऐसा कहते है इस तेल से आँख फूटती है।"

ये पहाड़ के लोग अत्यन्त ही विविध, रचनात्मक व आत्मनिर्भर हैं। परन्तु जिस पर्यावरण के आधार पर इनका जीवन टिका है उसका आज भयंकर रूप से शोषण हो रहा है जो कि अनुचित विकास कार्यक्रमों का परिणाम है। जब वातावरण, पर्यावरण व सभ्यता चरमराते हैं तो युवा पलायन करने को बाध्य हो जाते हैं। महिलाएँ, बच्चे व बुजुर्ग लोग ही इन चुनौतियों का सामना करने के लिए अकेले रह जाते हैं।

"यह जंगल अपने आप में एक प्राकृतिक विश्व विद्यालय है... इन पेड़ों के पास सब कुछ है देने के लिए, खाने के लिए भोजन भी है, पीने के लिए पानी और ज्ञान भी है... अपने ढ़ंग से एक पेड़ एक ज्ञान की किताब भी है।"

विश्वेश्वर दत्त सकलानी, पुराजगांव, सकलाना